UNIVERSAL
LIBRARY
OU_182190
UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H83/A52N Accession No. G.H. 233

Author अमृत राय।

Title नागफनी का देश। 1956

This book should be returned on or before the date last marked below.

नागफनी का देश

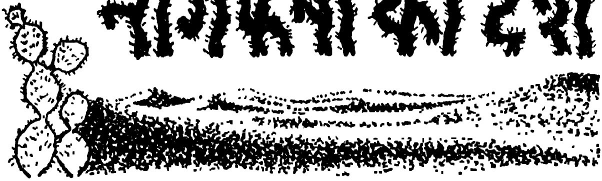

लेखक

अमृत राय

हंस प्रकाशन
इलाहाबाद

प्रकाशक :

हंस प्रकाशन, इलाहाबाद

मुद्रक:

हिन्दी साहित्य प्रेस, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : जनवरी १९५६

मूल्य डेढ़ रुपया

नागफनी का देश

लखनऊ में चौदह नम्बर डिक रोड पर एक बंगला है। डिक रोड यों ही बहुत सूनी सड़क है, उस से पर यह बंगला तो ऐसी जगह बना है कि वहां दिन के वक्त रात का सन्नाटा रहता है। वह तो कहिए, कुछ दूर पर दो एक पान वाले, दो एक सायकिल मरम्मत वाले, चार छः ठेले वाले, दो एक दर्ज़ी, और इसी तरह के कुछ लोग हैं जिनसे थोड़ी रौनक़ रहती है वरना तो पूरा मरघट समझिये।

रात के ग्यारह बजे हैं। एक निहायत टूटी फूटी, पुरानी, बदरंग मोटर घड़र घड़र करती हुई आती है और चौदह नंबर डिक रोड पर रुकती है। बंगला सो रहा है। मरघट का सियापा छाया हुआ है। मोटर सात आठ बार पों पों करती

है मगर उसकी आवाज़ शून्य में खो जाती है। बंगले के अन्दर का सन्नाटा नहीं टूटता। फाटक नहीं खुलता। तब एक लम्बा-तड़ंगा, दुहरे बदन का, गंदुमी रंग का आदमी चिंगुड़ा-मिंगुड़ा फलालैन का पतलून और ट्वीड का कोट पहने, ढीली-ढाली टाई लगाये, गले में स्टेथस्कोप और हाथ में एक बैग लटकाये मोटर में से उतरता है और फाटक पर खड़े होकर कन्हई कन्हई की आवाज़ लगाता है। आवाज़ थकी हुई है। दस बारह आवाज़ों के बाद कन्हई आँखें मलता और जम्हाई लेता हुआ आता है और फाटक खोलता है। यह आदमी कन्हई से कुछ भी नहीं कहता। वह खामोशी से अपने हाथ का बैग उसको पकड़ा देता है और दुबारा मोटर में जाकर बैठता है और मोटर अंदर लाकर कम्पाउन्ड में खड़ी कर देता है और अपने कमरे में चला जाता है।

रोज़ इस घटना की इसी प्रकार आवृत्ति होती है। ऋतुओं में भी शायद कभी कोई उलट-फेर मुमकिन है, मगर इस चीज़ में नहीं।

कुमी सो रहा था। बेला सो रही थी। उसने जगने की कोई ज़रूरत नहीं समझी। आँख खुल गयी थी मगर वह पड़ी रही। रनजीत अपने कमरे में गया। बत्ती जलायी। कमरे को वह सबेरे जैसा छोड़ कर गया था वैसा ही पड़ा था। बिस्तर भी नहीं ठीक किया गया था। कमरे भर में माचिस और सिगरेट के जले टुकड़े पड़े थे। गर्द की इंच इंच भर तह हर चीज़ पर जमी हुई थी। एक मेज़ पर नमूने के लिए आयी

हुई दवाएँ गडमड पड़ी थीं, और उन्हीं के बीच एक वायलिन पड़ा था जिस पर भी दिन भर की गर्द जमी हुई थी। आलमारी में पचीस-तीस किताबें टेढ़ी-मेढ़ी लगी थीं। कुर्सी पर, बिस्तर पर उतारे हुए कपड़े पड़े थे।

चारपाई की पाटी पर बैठकर रनजीत ने कपड़े उतारे, उन्हें हैंगर में लगाया और बाथरूम में चला गया। अच्छी तरह मुँह-हाथ धोकर खाने के कमरे में आया। उसका खाना प्लेट में निकालकर मेज़ पर रक्खा था। बर्फ़ की तरह ठण्डा। रनजीत एक निवाला उठाकर मुँह में डालता है और पीड़ा की एक हलकी, बहुत हलकी मुस्कराहट उसके चेहरे पर खेल जाती है। इन्तहाई खामोशी से वह उस सर्द खाने को खा लेता है—मुहब्बत के मर जाने पर भी भूख नहीं मरती—और खाना खाकर फिर अपने कमरे में आ जाता है, बिस्तर को जैसे-तैसे सोने क़ाबिल बनाता है और लेट जाता है। बड़ी बत्ती को बुझा देता है और पलंग के पास मेज़ पर रक्खे हुए लैंप को जला लेता है ताकि नींद आते ही फ़ौरन बत्ती बुझाकर सो जाये। और नींद बुलाने के ख़्याल से ही कहानी की एक किताब उठा लेता है। मगर नींद उसे नहीं आती।

वह अब भी मुस्कराता रहता है, मगर दर्द बरदाश्त से बाहर होता जा रहा है। दिन तो काम-धंधे में, मिलने-जुलने में कट जाता है। मगर रात को वह अकेला पड़ जाता है और भूतों की टोलियाँ उस पर हमला करती हैं।

यह क्या हुआ? मुहब्बत का कारवाँ यह किस रेगिस्तान में भटक गया? अगर इसी जगह पर तकिया करना था बेला, तो

अपना अपना सलीब उठाकर हम इतनी दूर भी क्यों आये ? हमारी मुहब्बत के गुलाब में इस तरह कीड़े पड़ जायं, इससे बेहतर था कि हम उसे कली में ही मसल डालते। महज़ एक चुटकी की बात थी। दर्द कम होता।

रनजीत को याद आयीं अपनी जवान मुहब्बत की वह सुलगती हुई रातें और चमकते हुए दिन (जो बीत चुका वही भूत है...) जब कि जिन्दगी चमन थी और भविष्य सुनहरे वर्कों और सुनहरी जिल्द की एक बन्द किताब थी और यह रेगिस्तान एक सरसब्ज़ वादी था...

मगर यह बात अगले वक्तों की है और स्मृति दर्द की एक कटार है। उसे म्यान में ही रहने दो।

अगर वह रहे...

तरह तरह के ख़्याल भूतों की तरह रात के उस काजल-काले अँधेरे में रनजीत की आंखों के सामने नाचते हैं। दिन भर की थकान के बाद भी नींद उसकी आंखों में बसेरा लेने नहीं आती और वह यों ही घंटों भूतों का यह नाच देखता रहता है...और कलेजे को झँझोड़ते हुए उस बेपनाह दर्द में भी उसे हंसी आ जाती है, एक निहायत कड़वी, ज़हर में डूबी हुई हंसी। दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना। मगर कहां, दवा तो वह औरों की करता है, खुद उसके मर्ज़ की दवा कहां है ? उस का मसीहा, उसका दोस्त, उसका दिलबर, उसका जानेमन कहां है ? जो उसकी जलती हुई पेशानी को सहलाये और थिर हो जाये और सहलाये और चूड़ियों की खनक सुनते सुनते मरीज़ को नींद आ जाये वह ठंडा हाथ कहां है ? यकायक रन-

जीत को लगने लगता है कि गोया वह खुद भी एक भूत है और नाच रहा है और तमाशा देख रहा है, कि यह ग़म उसका नहीं किसी और का है और वह भी एक तमाशबीन है, महज़ एक तमाशबीन, जैसे और कोई तमाशबीन...उस पर कोई बन्दिश नहीं है, वह जहा चाहे हंसे, जहां चाहे रोये और जहां चाहे मुँह में दो उंगलियां डालकर सीटी बजाये क्योंकि वह सिर्फ़ तमाशबीन है और जुगनुओं के खेल की तरह अंधेरे में जलता-बुझता यह जो ड्रामा हो रहा है वह उसकी नहीं किसी और की ज़िन्दगी का ड्रामा है और उसे इससे ग़रज़ नहीं कि हीरो को आखिर में चलकर राजपाट और चांद सी दुल्हन मिलती है या जल्लाद की तलवार उसका सर धड़ से अलग कर देती है। तमाशे के मज़े के लिये जो भी ज़रूरी हो उसे वह मंज़ूर है...

और गुज़रे ज़माने की बेशुमार बातें न जाने किस क्षितिज से उठने लगती हैं और टिड्डियों की तरह उसके मन के आकाश को छा लेती हैं, प्रेम-प्रीत, मान-अभिमान, वादे-इक़रार, झलकियाँ सब उस प्रागैतिहासिक युग की जो समय की धुंध में खो गया है और अब फिर कभी नहीं आयेगा, जिसकी अब सिर्फ़ पथरायी हुई हड्डियां बाक़ी हैं जिनसे मन का वह बौड़म पुरातत्व-वेत्ता उस प्राक् इतिहास को पढ़ने की कोशिश करता है और पढ़ नहीं पाता क्योंकि थकान से संज्ञा धूसरित है लेकिन तब भी पढ़ता है क्योंकि पढ़ना ज़रूरी है, कौन जाने भविष्य के लिये उससे कुछ आलोक मिल सके...

...और तपन की इन क्रूर घड़ियों में उसे अपने सुदूर बचपन के वह शीतल मीठे दिन याद आते हैं जबकि वह देहरादून के

इज़ाबेला कान्वेंट में पढ़ता था और बेला भी उससे तीन स्टैन्डर्ड नीचे पढ़ती थी और वह दोनों छुट्टी के वक्त संग-संग खेला करते थे रनजीत भी तब बच्चा था और बेला भी बच्ची थी। अब तो रनजीत के बाल कनपटी पर सफेद हो चले हैं और बेला के होठों पर एक तिरछी-सी मरोड़ आ गयी है। अब वह कभी उस तरह नहीं खेलते क्योंकि अब वह बड़े हो गये हैं और यह बात उस वक़्त की है जबकि वह बच्चे थे।

रनजीत के स्मृति-पटल पर साफ़ साफ़ उभर आता है इज़ाबेला कान्वेन्ट का वह नंदन कानन...जैसे एक बार फिर उसका बचपन लौट आया हो और वह फिर उसी मैदान में खेल रहा हो...

उसे मैदान भी क्या कहें क्योंकि असल में वह एक बड़ा सा कुंज ही था। कितनी प्यारी जगह थी, बच्चों की कौन कहे बुड्ढा भी आ जाय तो बिलम जाय, ऐसी ही जगह थी वह। कितनी घनी छांह थी उस बरगद की। पता नहीं कितना पुराना था। मैंने तो ज़िन्दगी में ऐसा पेड़ ही दूसरा नहीं देखा। रहा होगा चार-पांच सौ साल पुराना। याद है उसके तने का घेर? दस आदमी मिल जायं तब कहीं समेट पायें उसको और जटायें? पता नहीं धरती फोड़कर किस पाताल तक चली गयी थीं।

और छांह तो ऐसी कि जैसे किसी ने सूरज के मुंह पर कंबल रख दिया हो, एक किरण भी जो नीचे तक पहुँच पाती हो। बाक़ी सब जगह चाहे चिलचिलाती धूप फैली हो मगर उस बरगद के नीचे तो सदा छांह।

उस नंदन निकुञ्ज की एक एक चीज़ सजीव होकर रनजीत की आंखों के सामने आ रही है।

उस बरगद से कुछ ही घटकर थी वह इमली। उससे तो बच्चों को और ही प्यार था क्योंकि वह छांह भी देती थी और इमलियां भी, जो कभी पकने न पाती थी और पकने से बहुत पहले तोड़ ली जाती थीं। कितना मज़ा आता था उन कच्ची इमलियों में, अच्छे से अच्छे पकवान में भी वह मज़ा कहां ?

इमलियो के अलावा कुछ पेड़ नीम के थे और कुछ महुए के। नीम से हमारा सिर्फ छांह का वास्ता था गो कि वह भी कुछ कम न था क्योकि नीम की छांह की बात ही और होती है और फिर उन्हीं नीमों के साये में तो सारे खेल के सामान थे—झूला, फिसलनी, सी - सॉ, सभी कुछ।

सचमुच बड़ी प्यारी जगह थी और बहुत बड़ी। सैकड़ो बच्चे खेल सकते थे उस छांह में। और खेलते ही थे। कोई फिसल रहा है तो कोई झूल रहा है तो कोई चटाचट गोली की चोट मार रहा है तो कोई लकड़ी के घोड़े पर सवार सरपट भागा जा रहा है। जैसे घर का आंगन हो। बेला को झूले का बड़ा शौक़ था। मुझे कहानियां पढ़ने का। कैसी अच्छी लगती थी बेला। कपड़े भी सदा अच्छे पहनती, बड़े बाप की बेटी थी। मां खूब सजा-बजाकर भेजती थी, बालों में रङ्ग बिरंगे फीते, रेशम के कपड़े। बड़े लाड़ में पली थी। सब लड़कियो में अलग दिखाई देती थी मगर थी पिन्नी। बात बात में रो देती। कभी कोई चिढ़ा देता, कभी कोई।

और तब रनजीत को याद आया वह दिन जब उसने बेला के पीछे अपने से बड़े एक लड़के को मारा था, जो बेला को रुला रहा था और तब फिर रनजीत और उस लड़के में बहुत कसकर मारपीट हुई थी और मामला प्रिंसिपल के यहाँ पहुँचा था। और दोनों को दस-दस बेतों की सज़ा मिली थी। और उसके बाद बेला से उसकी जान-पहचान हो गयी थी और बेला उसे अपने घर ले गयी थी और वह बेला के घर का साज-बाज, बेला के खिलौने और बेला की किताबें देखकर देखता ही रह गया था...और फिर उसका बराबर आना-जाना शुरू हो गया था और धीरे-धीरे बेला के डैडी और ममी उसे घर का ही एक लड़का समझने लग गये थे...

काश कि वह दिन लौट सकते? कितने अच्छे दिन थे। हम दोनों का नन्हाँ-सा स्वर्ग था वह, किसी तीसरे की उसमें जगह न थी। हमारा घर भी पास ही था, हमारा सादा-सूदा मामूली सा घर जो बेला के घर के सामने एक झोपड़ी था। मेरे पिता मामूली अध्यापक थे एक कालेज में। उनके लिये हम सब भाई बहिनों की पढ़ाई का खर्च जुटाना ही मुश्किल था, वह बेला के डैडी का क्या मुक़ाबिला करते मगर तब इन चीज़ों को कौन देखता था। बेला जब तब अपने कपड़ों और अपने खिलौनों और अपनी किताबों और अपने डैडी की शान बताती और मैं चुपचाप सुन लेता, बल्कि उससे भी दो हाथ बढ़कर उसकी तारीफ़ कर देता। झगड़े की कोई बात ही न थी। बेला के डैडी अमीर थे तो थे, मेरे पिता नहीं थे तो नहीं थे। इसमें झगड़े की कौन सी बात है? कहने का मतलब कि हमारी बहुत अच्छी पट जाती थी। यह नहीं कि हम कभी किसी बात

पर झगड़ते न थे। मगर उन झगड़ों की कोई खरोंच हमारे दिलों पर न लगती थी। झगड़ते थे और भूल जाते थे और फिर मिल जुलकर खेलने लगते थे। शायद इसीलिये कि तब हम बच्चे थे, नादान थे, झगड़े को पोसना हमने नहीं सीखा था।

और रनजीत का दिमाग़ एक झटके के साथ पचीस साल पुरानी उन मीठी यादों से पलटकर आज की क्रूर वास्तविकताओं की पटरी पर दौड़ने लगा। वह अतीत दूर होते होते धुन्ध में डूब गया, बरगद की वह घनी छाँह शोले बरसाने लगी, झूले की डोर कट गयी, लकड़ी का घोड़ा चरमराकर टूट गया, नन्हीं सी फुदकती हुई बेला बड़ी हो गयी और उसकी आंखें बर्फ़ की तरह सर्द हो गयीं, उसकी हँसी हमेशा के लिये रुखसत हो गयी और उसका चेहरा एक अजीब तरीक़े से ऐंठ गया कि जैसे उसे लक़वा मार गया हो।

यानी हम बड़े हो गये और झगड़े को जतन से पोसना सीख गये। तभी तो छोटी-से-छोटी बात भी महाभारत का कारण बन जाती है। कुमी को अगर कभी खाना पहुँचाने में दस मिनट की देर हो गयी तो महाभारत रक्खा हुआ है। नौकर को अगर मैंने अपने किसी काम से बाहर भेज दिया तो महाभारत रक्खा हुआ है। कभी अगर मेरा कोई दोस्त एकाध रोज को घर आ गया तो महाभारत रक्खा हुआ है। और

आमदनी का कम होना तो जैसे महाभारत का एक स्थायी कारण है।

वह भी एक युग था हमारी ज़िन्दगी का। लेकिन अभी हमें और बड़ा होना था और हम और बड़े हुए और हमने सीखा कि असल महाभारत वह नहीं है जो गुस्से के इज़हार में, दो-चार, दस-बीस तेज़ लफ़्ज़ों के लेन-देन में चुक जाता है। वह तो मामूली सीधे मुँह का फोड़ा है जो एक हलके से नश्तर से अपना तमाम मवाद बहा देता है। असल महाभारत तो वह है जिसका मुँह ज़हरबाद की तरह भीतर को होता है जहाँ नश्तर पहुँच भी नहीं सकता, जो अपने ज़हर को बाहर नहीं बिखेरता बल्कि बड़े जतन से संच कर रखता है। इसलिये यह महाभारत कभी नहीं चुकता और भीतर भीतर अपना ज़हर फैलाता रहता है। यह निःशब्द महाभारत...कितना भयानक। कितना प्राणघाती। कितना कठोर...

हम दोनों एक ही घर में, एक ही छत के नीचे रहते हैं मगर क्या कोई इसे साथ रहना कहेगा ? बेला मेरी पत्नी है। मैं बेला का पति हूँ। हमने अग्नि को साक्षी रखकर शपथ ली थी कि आमरण एक दूसरे का साथ देंगे। उसी शपथ का हम निर्वाह कर रहे हैं !

पिछले तीन साल से किसी ने हम दोनों को साथ नहीं देखा, न सिनेमा न थियेटर न हज़रतगंज न अमीनाबाद न किसी दोस्त के घर। यहाँ तक कि अपने घर पर भी नहीं। बेला अपने कमरे में बन्द रहती है और मैं, रनजीत, अपने कमरे में बन्द रहता हूँ यानी जब मैं घर पर रहता हूँ, वर्ना मैं हूँ और लखनऊ की ये सड़कें हैं। बेला को पता नहीं रहता कि

यह रनजीत कहाँ जाता है, कब लौटता है, क्या खाता है नहीं खाता, न वह पूछती है न मैं उसे बतलाता हूँ। यही असल महाभारत है। हम दोनों अलग-अलग अपनी दुनिया में रहते हैं। किसी को किसी से ग़रज़ नहीं। कभी-कभार भूले-भटके रात के खाने पर हम दोनों की मुलाक़ात हो जाती है और हम एक ही मेज़ पर आमने-सामने बैठकर ज़हर के निवाले निगल लेते हैं। हमारी आँखें नीचे प्लेट पर गड़ी रहती हैं या दायें-बायें देखती हैं मगर कभी भूलकर भी सामने की तरफ़ नहीं देखतीं। हम शायद ही कभी मुस्कराते या बात करते हैं और अगर कभी मुस्कराते या बात करते हैं तो वह न मुसकराने और न बात करने से भी बदतर, उससे भी ज़्यादा तकलीफ़देह साबित होता है और हम अगले पाँच दिन तक पछताते रहते हैं कि ऐसी ग़लती हमने क्यों की।

एक ही ताबूत और एक ही क़ब्र में दो लाशें दफ़न हैं... उफ़, कितना दर्द हो रहा है। रग रग टूट रही है। पिंडलियाँ, बाँहें, कंधे, सब जैसे कटकर गिरे जा रहे हैं। सर फटा जा रहा है। सांस लेने में तकलीफ़ हो रही है। हाँ वही चीज़ है। हाँ जी वही चीज़ है। वही पुरानी चीज़। मेरा दम लेकर छोड़ेगी। ओह...ओह...सीने में जैसे कोई ख़ंजर भोंक रहा है। तकलीफ़...तकलीफ़ बढ़ती ही जाती है... बढ़ती ही जाती है। घटने का नाम नहीं लेती...नाम नहीं लेती...ऐसे कैसे चलेगा... कैसे चलेगा...साँस कितनी मुश्किल से आ रही है! हाँ... हाँ... थोड़ा आराम है अब...मगर नहीं...मगर नहीं...ओह...

और एक लम्बी कराह के साथ रनजीत उठकर बैठ जाता है और बेडस्विच से कमरे की रोशनी जला देता है और सीने

के गोश्त को पंजों से वहशी की तरह बेदर्दी से दबोचता है और बैठा रहता है बैठा रहता है और बुड्ढे कुत्ते की तरह हाँफता रहता है और जाड़े की इस सर्द रात में तौलिये से ढेरां पसीना पोंछता है जैसे परनाला बह रहा हो। और सब कुछ अपनी उस तनहाई में जब सन्नाटे को छोड़कर दूसरा कोई उसके पास नहीं होता और इसी तरह, हाँ इसी तरह, वक़्त गुज़र जाता है और दर्द घट जाता है, हाँ घट जाता है। घटता तो है, घटता तो है...

मगर सीने के दर्द का घटना दिल के दर्द का घटना तो नहीं...

और तब रनजीत अपना वायलिन उठा लेता है और अपने दर्द को बहलाने के लिए उसके तारों को छेड़ने लगता है—

जिससे बेला की नींद उचट जाती है और वह घड़ी पर नज़र डालकर बड़बड़ाने लगती है। एक बजा है। बारह पर सोयी थी। मुश्किल से घंटा भर हुआ मगर इनकी तो सुबह हो गयी। किस मज़े में भैरवी छेड़ रक्खी है। खुद को नींद नहीं आती तो दूसरा भी क्यों सोये! पूछिये यह भी कोई वक़्त है, कोई तरीक़ा है!

और वह बड़ी देर तक इसी तरह मुँह ही मुँह में कुछ बुद-बुदाती रहती है और कोसती है अपनी ज़िन्दगी को।

कैसे अजीब आदमी से पाला पड़ा। इसी ज़िन्दगी के लिए मैंने डैडी को नाराज़ किया था? उनको आदमी की ज़्यादा पहचान थी। उन्होंने तभी कहा था, बेला तू ग़लती कर रही है। यह आदमी किसी काम का नहीं है। कुछ करेगा-धरेगा नहीं। इसके संग तू सुखी नहीं रहेगी। एक बार फिर सोच ले...मगर उस वक़्त तो बेला पर पागलपन सवार था। उसे सोचने की फ़ुर्सत कहाँ थी। मैंने कहा, डैडी, आप नहीं जानते ...मगर डैडी जानते थे। आखिर हुआ न वही जो उन्होंने कहा था। तजुर्बा बड़ी चीज़ है। किस काम की है मेरी ज़िन्दगी। क्या मिला मुझे, कौन सा सुख? और तो और, खर्च तक की तंगी होती है। पता नहीं सारा दिन कहाँ घूमते रहते हैं। दोपहर को खाना खाने की भी उन्हें फ़ुरसत नहीं मिलती। कहने को सभी से उनकी राह-रस्म है। शहर के तमाम नामी-गरामी, धनी-धोरी लोग इन्हें बुलाते हैं। और ये जाते हैं। सभी तो उनके अपने आदमी हैं। कौन है जिनके यहाँ वह नहीं जाते? मगर कमाई? वही ढाक के तीन पात। कभी तीन सौ घर में देते हैं कभी साढ़े तीन सौ। और समझते हैं क़िला जीत लिया। बड़ा ताज्जुब होता है उन्हें कि इतने में घर का खर्च नहीं चलता। कहते हैं तीन ही तो आदमी हैं। मगर ज़रा वक़्त को भी तो देखिये। किस मुश्किल से मैं घर का खर्च चलाती हूँ मेरा दिल जानता है। खाने-पहनने का, साज-सिंगार का शौक़ किसके दिल में नहीं होता मगर मुझसे क़सम ले लो जो मैं एक कौड़ी अपने किसी शौक़ पर खर्च करती होऊँ। सारी उमङ्गों को एक सिरे से मैंने दफ़ना दिया है। न मुझे गहने का शौक़ है न कपड़े का न कहीं

जाने-आने का। घर से निकलना भी मैंने बन्द कर दिया है। न किसी को देखूँगी न मुझे मलाल होगा। घर ही पर अपना बैठे-बैठे कुछ बुनती-काढ़ती रहती हूँ। और उससे भी दो पैसे आते ही हैं। मगर वह तक मैं अपने ऊपर नहीं खर्च करती। वह भी इसी कुएँ में झोंक देती हूँ। मगर कौन कहे यह सब बातें और किससे कहे और कौन सुने। फ़ायदा भी क्या। अन्धे के आगे रोये अपना दीदा खोये। इसीलिये ख़ामोश रहती हूँ, भुगत लेती हूँ। किसे दोष दूँ ? किसे पुकारूँ ? किस मुँह से ? जिसने किया है वही तो भरेगा। सब क़िस्मत का खेल है। किसी को भी दोष देना बेकार है। क़िस्मत का लिखा कोई नहीं टाल सकता। मैं चाहूँ कि भागकर बच जाऊँ तो वह भी नहीं हो सकता, मेरी क़िस्मत मेरा पीछा करेगी, और जहाँ मैं होऊँगी वहाँ जाकर पकड़ेगी। इसीलिये मैं न किसी से कुछ कहती हूँ न सुनती हूँ और न ही रोती-कलपती हूँ। जो पड़ती है झेलती हूँ और अगर किसी दिन मन बहुत दुखी हो जाता है तो तकिये में मुँह गाड़कर रो लेती हूँ। मगर कभी कभी सोचती ज़रूर हूँ कि यह हो क्या गया ? क्यों हममें अब वह पहले सा प्रेम नहीं रहा ? कभी तो था, इससे कैसे इनकार करूँ। तो फिर यह क्या हुआ और कैसे हुआ ? और मैं तो बस इतना समझ पाती हूँ कि रनजीत को ही मुझसे अब वह पहले सा प्रेम नहीं रहा। वह उमंग ही ख़त्म हो गयी, मेरे देखते देखते। वह न जाने कहाँ भटकते रहते हैं। घर पर उनका जी ही नहीं लगता। पहले वह मेरे चारों तरफ़ मँडराते रहते थे, अब बरसों से यह हाल है कि वह मेरी ख़बर ही नहीं लेते। जैसे मैं भी कोई आटे-दाल का बोरा हूँ, लाकर घर में डाल दिया।

और फिर जब उन्हीं को मेरी फ़िक्र नहीं, मुझसे बात करने की फ़ुरसत नहीं, मेरे संग कहीं आने-जाने का वक़्त नहीं तो फिर ठीक है, मैं ही क्यों उनके पीछे मरूँ। मुझसे तो यह नहीं हो सकता कि मुझको कोई दुरदुराये और मैं उसके सामने दुम हिलाऊँ। मैं ऐसी बेग़ैरत नहीं हूँ। मैं किसी की लौंडी नहीं हूँ। बिक नहीं गयी हूँ। इस हाथ ले उस हाथ दे। मैं तो इतना जानती हूँ। प्यार से चाहे कोई मेरा गला ही काट ले, मगर धौंस मैं किसी की नहीं सह सकती, अपनी धौंस अपने घर रखिए। मैं अपनी रोटी कमा सकती हूँ। मुझे किसी का सहारा नहीं चाहिये। मैं दुम नहीं हिला सकती, किसी के सामने नहीं हिला सकती। कोई मुझसे दो हाथ दूर हटे तो मैं बीस हाथ हटने को तैयार रहती हूँ...और किस बात की धौंस सहूँ? कौन से आपने ऐसे महल खड़े कर दिये मेरे लिए? या पाट दिया मुझको गहने-कपड़े से? या समाज में मेरी बड़ी इज़्ज़त बढ़ गयी आपकी वजह से? मैं पूछती तो हूँ बताइए न आपने ऐसा कौन सा एहसान मेरे ऊपर कर दिया, क्या मेरी मांग मोतियों से भर दी कि मैं आपकी धौस सहूँ? मैं जहाँ भी रहती इससे अच्छी रहती। आपको न लगती होगी बुरी, मुझे तो फटेहाली अच्छी नहीं लगती। मैं इस तरह रहने की आदी नहीं हूँ। मैं इससे कहीं अच्छी तरह रहने की आदी हूँ। जो कुछ मेरे लिए होता था मैं कुमी के लिए उसका सौवां हिस्सा भी नहीं कर पाती। बुरा नहीं मालूम होगा? मगर क्या कर सकती हूँ। जितनी चादर होगी उतना ही तो पैर फैलाऊँगी? इसको छोड़ो, घर को लो। मुझे तो इस लद्धड़ तरीक़े से रहने की आदत नहीं है। न ढंग के सोफे

न क़ालीनें न पर्दे न तसवीरें न फूल-पत्ती—यह भी कोई शरीफ़ों के रहने का तरीक़ा है। मैं तो जन्नत बना दूँ इस घर को, हाँ इसी चमारिया घर को, जो देखे उसकी आँखें निकल आयें कि हाँ क़ायदे से रहना इसको कहते हैं। मगर हाथ में पैसे हों तब तो। कि मैं बिछ जाऊँ क़ालीन की जगह! तुमने तो देखा है मैं जहाँ रहती थी और जैसे रहती थी। और कोई आज से नहीं, तुम तो न जाने कब से देख रहे हो उस घर को। वैसे कितने बंगले थे देहरादून में? देहरादून तो देहरादून आपके इस लखनऊ में वैसे खूबसूरत सजे हुए बंगले दो ही चार मिलेंगे। मैं वैसे घर में रहने की आदी हूँ। और उसी स्टाइल से। उतना नहीं तो कुछ तो हो। आखिर मैं कितना गिराऊँ अपने आपको? डैडी ने कहा था कि देख बेला, यह रनजीत हमारे स्टैन्डर्ड से नीचा पड़ता है। तुझे तकलीफ़ होगी। मगर उस वक़्त तो मैं प्रेम के झूले पर थी—हुँः प्रेम का झूला—ये सब बातें किसे सूझतीं और कोई सुझाता भी तो कौन मानता। क्या मेरा प्रेम इतना ओछा, इतना टुच्चा है? जो वह खायेंगे वह मैं खाऊँगी, जो वह पहनेंगे वह मैं पहनूँगी, जहाँ वह रहेंगे वहाँ मैं रहूंगी। जहाँ प्रेम है वहाँ इन बातों का क्या गुज़र। प्रेम का ओढ़ना प्रेम ही बिछौना! सब फ़िजूल बातें हैं...रहन-सहन, तौर-तरीक़ा, मैं तो देखती हूँ यह सब खून के जुज़ बन जाते हैं। मैं चाहती हूँ कि भूल जाऊँ इन बातों को और समझ लूँ कि मेरी ज़िन्दगी यही है। और वैसी कुछ बुरी भी नहीं है। बहुतों से अच्छी है।। मगर तब भी पता नहीं क्यों मेरे अन्दर से वह चीज़ जाती नहीं। शायद मैं अपने पूरे मन से चाहती नहीं। मगर क्यों न चाहूँगी? कुढ़ने में तो कोई सुख नहीं है। और मैं

अब बच्चा भी नहीं हूँ। जानती हूँ कि पांसा फिंक गया है और जो है वह अब बदला नहीं जा सकता। सुख अगर मुझे पाना है तो इसी में पाना है। नहीं तो नहीं पाना है। मैं इस बात को समझती हूँ और इसी लिए सोचती हूँ कि शायद मेरे चाहने में खोट नहीं है। लेकिन तब भी मैं क्या करूँ, मेरे मन की चिढ़ नहीं जाती।

और ठीक तो है, रनजीत ने भी तो मुझे देखा था। उन्हें नहीं सोचना चाहिए था ? और क्या अगर वह चाहें तो इतना कमा नहीं सकते कि हम लोग उस तरह रह सकें जिस तरह कि हमको रहना चाहिये ? बड़े मज़े में, बशर्ते वह चाहें, मेरी तकलीफ़ को समझें। मगर किसकी तकलीफ़ ? कैसी तकलीफ़ ? जब तक दो रोटी और दो धोती मिली जाती है तब तक तकलीफ़ कैसी ! दुनिया पहले घर में दिया जलाती है। हमारे यहां उल्टा क़ायदा है। पैसा हाथ का मैल है। नाम बड़ी चीज़ है। सो नाम कमाया जा रहा है ! ग़रीबों की सेवा की जा रही है ! बताइये दुनिया के और सब डाक्टर मर गये हैं ? और तो किसी के सर पर यह भूत सवार नहीं है। सब दवा लिखते हैं, अपनी फ़ीस लेते हैं। मरीज़ को देखने उसके घर जाते हैं, उसकी फ़ीस लेते हैं।...सब यही करते हैं। दुनिया का क़ायदा यही है। इन्हीं का अपना एक अलग ढंग है। किसी से इसलिए फ़ीस नहीं ले सकते कि वह इनका ताऊ है और किसी से इसलिये कि यह उसके ताऊ हैं। कोई इनका दोस्त है, कोई भाई, कोई भतीजा, शहर के एक एक आदमी से तो इन्होंने रिश्ता जोड़ रखा है और फिर जिससे रिश्ता क़ायम हो

गया उससे कहीं कोई फ़ीस लेता है? राम राम, कैसी बुरी बात कह दी। पता नहीं अपनी मेहनत का मेहनताना मांगते क्यों इनकी नानी मरती है। दुनिया जानती है कि इसी से आपकी रोटी चलती है, तब फिर संकोच कैसा? और कब तक! पुरानी कहावत है, मुरौवत का दही खट्टा होता है। वही हमारे घर का हाल है। पैसा आवे तो कहाँ से? यह नहीं कि अपनी फ़ीस माँगें तो लोग देंगे नहीं, मैं तो समझती हूँ देंगे और खुशी से देंगे, मगर आप माँगें तब तो। मगर नहीं, यहाँ तो पुण्य कमाया जा रहा है? यही मुझे बुरा लगता है, मजबूरी हो तो और बात है। उसका उतना बुरा नहीं लगता क्योंकि भाई मजबूरी है, दूसरा चारा नहीं है। यह पाखंड अच्छा नहीं लगता। वही मसल कि आप मियां मांगते द्वार खड़े दरवेश। पूछिये आप अगर ज़माने का इलाज मुफ़्त कीजियेगा तो खाइयेगा क्या? है आपकी हैसियत कि मुफ़्त इलाज कर सकें? आपकी हैसियत हो तो आप एक नहीं बीस अस्पताल खोल दीजिये जहाँ रोगियों का मुफ़्त इलाज हो। लेकिन जब हैसियत नहीं है तो ढोंग करने से क्या फ़ायदा? जो बात हो सामने आये। इसमें शर्म कैसी झिझक कैसी...यह सब कुछ नहीं। असल बात यह है कि मेरा घमण्ड तोड़ना है। बेला बड़े बाप की बेटी है, बहुत ठाठ-बाट से रहने की आदी है तो मैं इसे टाट पहनाऊँगा, टाट पर सुलाऊँगा! असल बात यह है। मैं भी समझती हूँ। मगर आप भूल करते हैं अगर यह सोचते हैं कि आप इस तरह मुझे झुका लेंगे। मैं मर जाऊँगी मगर यह धौंस नहीं सहूँगी। आपको अगर अपनी ज़िद है तो मैं भी कोई कम ज़िद्दी नहीं हूँ। जिद नहीं तो और क्या है। इन

पिछले वर्षों में मैंने कितनी बार यह बात न कही होगी मगर वह हैं कि कान। पर जूँ भी नहीं रेंगती। इसीलिये अब तो एक ज़माने से कहना भी छोड़ दिया है। क्या फ़ायदा? सोते को जगाना आसान है, जागते को जगाना मुश्किल। वह कोई बच्चे तो हैं नहीं कि कुछ समझते नहीं। आपको अगर यही सब करना था तो आपने घर बसाया ही क्यों? जो जी में आता करते, जितना पुन्य कमाना होता कमाते, कोई आपका हाथ पकड़ने न जाता। लेकिन जब आपने घर बसाया है तब फिर यह घर फूंक तमाशा कैसे चलेगा? तब तो चाहे आपको अच्छा लगे चाहे बुरा, आपको उसी तरह चलना होगा जिस तरह सारी दुनिया चलती है। मेरा बस इतना ही कहना है। लेकिन, जब यह भी उनकी समझ में नहीं आता तब फिर क्या रहा? और समझ में आये भी कैसे जब दिल में प्रेम ही नहीं रहा।...मैं जानती हूँ, उन्हें न तो अब मुझसे प्रेम रह गया है और न मेरे बच्चे से, कुमी से, क्योंकि वह मेरा बच्चा है... अब तो इधर बरसो से बोल-चाल बन्द है मगर पहिले जब थी तब कितनी बार मेरी उनकी झौं-झौं इसी बात को लेकर न हुई मगर क्या नतीजा निकला? कुछ भी नहीं। एक कान से बात सुनी और दूसरे से निकाल दी। सचमुच बड़ा पत्थर का कलेजा है। मैं क्या जानती थी...बात का अन्दाज़ तो ऐसा कि जैसे शराफ़त के पुतले हों, चेहरे पर हर वक़्त मुस्कराहट खेलती रहेगी, ज़ाहिरा बड़े ग़ौर से आपकी बात सुनेंगे और अपनी बात भी बड़ी नर्मी से कहेंगे, आपकी बात पहले तो काटेंगे नहीं और अगर काटेंगे भी तो बड़ी मुलायमियत से। मगर दिल में पहले से अपना फ़ैसला किये बैठे रहेंगे और

उससे टस से मस नहीं हो सकते, चाहे इधर की दुनिया उधर हो जाय। अगर मन का द्वेष यह नहीं है तो फिर और क्या है? आदमी को पहचानना बड़ा मुश्किल काम है। अन्दर कुछ बाहर कुछ। बड़े खतरनाक होते हैं ऐसे आदमी। माथे पर शिकन न आये, चेहरे पर मुस्कराहट ऐसी ही बनी रहे और आप का गला रेत दें! मुझे बड़ा डर लगता है ऐसे आदमियों से जिन्हें कभी गुस्सा नहीं आता। मैं उन्हें सख्त से सख्त, बुरी से बुरी बात कह कर देख चुकी हूँ। उन्हें गुस्सा नहीं आता, कम से कम दिखलाई नहीं देता, आने न आने की बात ईश्वर जाने। मज़ा यह कि आपकी बात काटेंगे भी नहीं और करेंगे भी अपने मन की। सदा से यही हाल है उनका, कोई नयी बात नहीं है। नहीं नहीं, बीमारी से कोई वास्ता नहीं है इस चीज़ का। बीमार तो इधर आकर हुए हैं। पिछले दो तीन साल से। और यह तरीक़ा तो इनका पुराना है। फिर भी बीमारी तो है। बीमारी है तो मैं क्या करूं? मुझको बुरा नहीं लगता क्या? उनसे मेरी ऐसी कौन सी दुश्मनी है कि मैं उनकी बीमारी मनाऊँ? अच्छे रहें, भले रहें। यह तो मन का सौदा है—पटा पटा, नहीं पटा नहीं पटा। उसकी मैं शिकायत नहीं करती और करूं भी तो किससे? और किस मुँह से? जो है ठीक है और दोष जितना और किसी का है उतना ही मेरा है। मेरी किसी से लड़ाई नहीं है। जो रहे खुश रहे, तंदुरुस्त रहे। मैं भी यही चाहती हूँ। लेकिन मैं क्या कर सकती हूँ बीमारी का? मेरा बस क्या? उन्होंने तो आज तक एक बार मुझे बताया भी नहीं कि उनकी तबियत खराब रहती है। बता देते तो जात न चली जाती! और झूठ

क्यों कहूँ। उन्होंने नहीं बताया तो मैंने पूछा भी नहीं। एक वही थोड़े ही टेक निभाना जानते हैं। मुझसे नहीं होता कि कोई तो मेरी छाया से भागे और मैं दुम की तरह पीछे-पीछे लगी रहूँ। क्यों नहीं कहा उन्होंने ? इसीलिये न कि वह मुझको अपना नहीं समझते ? अपना समझते तो ज़रूर अपनी तकलीफ़ कहते, एक नहीं सौ बार कहते। अपना नहीं समझते इसीलिये कभी भूल से भी अपनी तकलीफ़ की बात उन्होंने मुझसे नहीं कही। और ठीक ही तो किया। कौन किसके साथ आता है और कौन किसके साथ जाता है और कौन किसके साथ रहता है। सबको अपना दुख-दर्द अकेले भोगना होता है।...पहले -जब मैं उनका कराहना सुनती या देखती कि वह आधी रात को उठकर बैठ गये हैं और हांफ रहे हैं और बदहवास की तरह अपने आप को हवा कर रहे हैं तो मेरी छाती पर आरी सी चल जाती थी। बिगाड़ तब भी था हममें, लेकिन मुझसे देखा न जाता और कई बार ऐसा हुआ कि मेरे पांव आपसे आप उठ गये और मैं उनके कमरे की तरफ बढ़ी...मगर फिर चौखट पर पहुँचकर रुक गयी। नहीं, मैं नहीं जा सकती उनके.पास, इस वक़्त भी नहीं जा सकती। अगर उनको मेरी ज़रूरत नहीं है तो मैं नहीं जाऊँगी, मुझे कितनी ही तकलीफ़ क्यो न हो मैं नहीं जाऊँगी। मैं ज़बरदस्ती अपने आप को किसी पर लादना नहीं चाहती...और मैं रुक जाती और अपने बिस्तर पर लौट आती और रोशनी बुझाकर फिर सोने की कोशिश करती और उनके कराहने और हांफने की आवाज़ मेरे कमरे में पहुँचती रहती और मुझे नींद न आती और इसी तरह बिस्तर पर करवटें बदलते-बदलते मेरी सुबह हो

जाती और वहाँ उस कमरे में इसी तरह बिस्तर पर करवटें बदलते-बदलते उनकी भी सुबह हो जाती, मगर न वह मेरे पास आते और न मैं उनके पास जाती क्योंकि हमारे बीच का पुल टूट गया था।

बहुत रोज़ तक यही कैफियत चली और फिर धीरे-धीरे मैं इस चीज़ की आदी हो गयी, जैसे आदमी बड़ी से बड़ी तकलीफ़ का भी आदी हो जाता है और तब फिर जब मैं उनको कराहते या हाँफते सुनती तो मुझे उतनी तकलीफ़ न होती और बराबर मेरी यह तकलीफ़ कम ही होती गयी यहाँ तक कि अब ज़रा सी भी नहीं होती। जैसे इसी वक़्त वह अपने कमरे में पड़े हाँफ रहे हैं, कराह. रहे हैं मगर मेरे मन पर उसकी इतनी सी भी छाया नहीं पड़ रही है। मैं नहीं जानती कि यह बुरा हुआ या अच्छा, मगर है सच, भयानक भी है तब भी सच है। शायद मेरे अन्दर कोई चीज़ मर गयी है और यह अच्छी बात नहीं है यह भी मैं जानती हूँ, मगर इस तरह जीना ज़रूर कुछ आसान है, भले यह जीना मौत से भी बदतर हो मगर साँस तो चलती है, दिल-दिमाग़ में हर वक़्त अंधड़ तो नहीं बहते, पूरे वक़्त कोई भीतर बैठा सुइयाँ तो नहीं चुभोता। अच्छा है यह भी अच्छा है। हर आदमी अपने डब्बे में बन्द है। पास पहुँचने का कोई रास्ता नहीं है। ईश्वर को अगर यही मन्ज़ूर है तो फिर किसी का उसमें क्या बस। रोने-झींखने से, तड़पने और हाय हाय करने से फ़ायदा भी क्या? कौन किसी की तकलीफ़ बाँट लेता है, झेलता तो आदमी अकेले ही है। हाँ थोड़ा सा मन को ज़रूर सहारा मिल जाता है।

मगर वह भी एक तरह की मृगछलना ही है और अच्छा है कि आदमी उसकी असलियत को समझ ले। धोखे में रहे आना कोई बुद्धिमानी नहीं है...

मगर आदमी का शायद स्वभाव है कि वह किसी न किसी मृगछलना के बिना नहीं जी सकता। जब बाहर उसे कोई चीज़ नहीं मिलती तब वह मकड़ी की तरह अपने ही भीतर से उसकी सृष्टि कर लेता है। इसीलिये इस वक़्त भी जब कि बेला का मन पके फोड़े की तरह टप टप टपक रहा था, उसको अतीत की बातें याद आ रही थीं, एक नहीं अनेक—मीठी, सुहानी, रसीली। मगर वह बातें जितनी मीठी थीं उनको याद उतनी ही कड़वी थी और व्यर्थ थी। क्योंकि गुज़रा हुआ वक़्त छूटा हुआ तीर है और मिठास पर मिर्च के धुएँ का कड़वापन भारी है जिससे आंखें नम हुई जा रही हैं। नहीं यह नहीं हो सकता। जो बात अब तक नही हुई वह अब न होगी। उसने इन्तहाई ठंडे मन से उन आवारा यादों का गला घोंट दिया और घड़ी पर नज़र डाली, ढाई बजे थे और रनजीत के कमरे से अब भी वायलिन का कुछ उखड़ा-उखड़ा स्वर आ रहा था जो बेला के कानों में चुभ रहा था। एक बार उसके जी में आया कि रनजीत के कमरे में जाय और उससे कहे कि यह बेवक़्त की शहनाई बन्द करो, अगर बहुत तकलीफ़ है तो मुँह ढाँप कर सोओ। मगर वह जा नहीं सकी क्योंकि बीच का पुल

टूट गया था। अब तो झगड़े के लिए भी ज़मीन न रह गई थी। अब तो थी बस खामोशी, एक नासूर......

ग़रज़ बेला अपने बिस्तर से न उठ सकी और वहीं पड़ी कुढ़ती रही और इसी तरह पता नहीं कब उसे फिर नींद आ गई।

और फिर दोनों की अलग अलग सुबह हुई। रनजीत की आंखें नींद न आने से लाल थीं मगर दाढ़ी बाक़ायदा बनी हुई थी और कपड़े साफ़ थे और चेहरे पर वही भेदभरी मुस्कराहट थी। चाय पर तीनों की मुलाक़ात हुई। मेज़ के बीचोबीच जहां चाय की केतली रखी जाती है वहीं खामोशी की दीवार सीधी खड़ी थी। कुमी उसको नहीं देख सका क्योंकि अभी वह बच्चा था। मगर उसका बोझ उस पर भी पड़ रहा था और वह हैरान था और लोगों को खुश करने के लिए दो-एक वैसी बातें भी कर रहा था, मगर वह दीवार अपनी जगह पर अटल थी, बच्चे की ये नन्हीं दराँतियां उसकी एक चिप्पी भी निकालने में नाकाम थीं।

बेला ने आज मौन तोड़ा, बोली—रात बड़ी देर तक तुम वायलिन बजाते रहे!

रनजीत ने तोस-चाय खत्म करके रुमाल से मुँह पोछते हुए मुस्कराकर कहा, 'हां' और मेज़ पर से उठ गया।

रात को वह घर लौटा तो आज एक नई ही रौनक़ मिली। आज वह सियापा न था, मुर्दनी न थी। कई कमरों में रोशनी जल रही थी। रोशनी यानी ज़िन्दगी की, इन्सानों की बस्ती की अलामत। आज उसे घर ज़िन्दा मिला, घर के लोग ज़िन्दा मिले। उसे कुछ हैरानी तो हुई मगर फिर भी अच्छा मालूम हुआ।

उसने फाटक के कुन्डे खटखटाये और आज फाटक कन्हई ने नहीं बेला ने खोला और मुस्कराकर उसका स्वागत किया—आज तुम जल्दी आ गये!

रनजीत ने धीमे स्वर में कहा—हां बेला, आज मैं कुछ जल्दी आ गया। तो भी दस बजा है। तुम सोयीं नहीं?

बेला ने कहा—नहीं, मैं सोयी नहीं। मैंने खाना भी अभी नहीं खाया।

रनजीत के स्वर में बस थोड़ा आश्चर्य था और कुछ नहीं जब उसने कहा— अच्छा...मेरी राह देखती रहीं?

बेला इस झूठ को न पी सकी, बोली—नहीं, यों ही।

यह आज पच्छिम में सूरज कैसे उगा? इस राज़ को समझने के लिये रनजीत ने अपना दिमाग़ दौड़ाया तो जैसे

उसके मन के आकाश में बिजली सी कौंध गयी—ज़रूर श्रीकान्त का खत आया है! दूसरी कोई बात निकल जाय तो तुम्हारी टांग के बीच से निकल जाऊँ!

रनजीत की अंतस्संज्ञा ने झूठ नहीं कहा। बेला की इस आकस्मिक, अप्रत्याशित प्रसन्नता का यही रहस्य था। आज दोपहर को उसे श्रीकान्त का वह चार पंक्तियों का पत्र मिला था जिसे वह अब तक कुछ नहीं तो तीस बार पढ़ चुकी थी—बेला, मैं २२ को लखनऊ पहुँच रहा हूँ। दो रोज़ ठहरूँगा। कलकत्ते जा रहा हूँ। मेरे चित्रों की प्रदर्शनी हो रही है। श्रीकान्त।

आज २० है। दो दिन बाद श्रीकान्त यहाँ होगा। इस बार बहुत लम्बा ग़ोता लगा गये। यह शायद सात महीने पर आना हो रहा है। तो आज २० है और २२ को श्रीकान्त यहाँ होगा। बस कल का दिन है बीच में। कितनी बार वह इस बात को मन ही मन दुहरा चुकी थी।

क्यों कोई व्यक्ति किसी को इतना ज़्यादा भाता है और दूसरा नहीं भाता, यह राज़ आज तक कोई नहीं खोल सका। मगर इतना तो सच है ही कि श्रीकान्त का यह छोटा सा रुक्का पाकर बेला जैसे हवा में उड़ने लगी थी। उसके पैर ज़मीन पर न पड़ते थे। पता नहीं कौन सा जादू था उन चार पंक्तियों में। बेला बहुत अच्छा गाती थी मगर उसका गाना कण्ठ में जैसे सूख गया था। आज वह सूखा हुआ निर्झर फिर तरल हो गया था। उसके मन में आनन्द जैसे उमड़ा पड़ रहा था और वह समझ नहीं पा रही थी कि उसको कैसे उलीचे।

श्रीकान्त अछूती कलात्मक रुचि का आदमी है। कलाकार है न इसीलिये। मगर वैसा कलाकार नहीं जैसे बहुत से होते

हैं जिन्हें अपने तन-बदन की सुध भी नहीं होती, जिन्हें न खाने की तमीज़ होती है न पहनने की न रहने की। एकदम ढीले-ढाले, लश्टम-पश्टम, दाल-भात खा लेंगे, चाहे जहाँ चाहे जैसे पसर जायँगे। उन्हें न सफ़ाई से मतलब न सुथराई से। वह समझते हैं कि यही सबसे बड़ी कला है कि आदमी खोया-खोया रहे और जिस भी हालत में रहे अनाप-शनाप कुछ गोदता रहे। तब तो भैंस से बड़ा कलाकार कोई नहीं। उसे जिस भी जगह डाल दो मगन रहती है, पागुर किया करती है। आदमी और जानवर में फ़र्क क्या रहा? यह कला की रुचि ही तो सबसे बड़ा फ़र्क है आदमी और जानवर में। जानवर के पास कला की रुचि नहीं होती, आदमी के पास होती है और कलाकार के पास तो और भी होनी चाहिये अगर वह सचमुच कलाकार है। रनजीत जिस गड़बड़, फूहड़ तरीके से रहता है अगर कहीं श्रीकान्त को वैसे रहना पड़ जाये तो उसका दम ही निकल जाय।

श्रीकान्त के लिये हर चीज़ साफ़-सुथरी क़ायदे की होनी चाहिए। हर चीज़ में हर बात में उसकी मौलिक कलात्मक रुचि दिखनी चाहिये। यानी उसकी छाप होनी चाहिए हर चीज़ पर। कपड़े पहनेगा तो ऐसे जैसे कोई नहीं पहनता। और इसीलिये अपने कपड़ों का डिज़ाइन वह खुद निकालता है। ताकि उसके पहले उसके जैसे कपड़े कोई दूसरा न पहने। बाद को पहने, सारी दुनिया पहने, इसमें श्रीकान्त को आपत्ति नहीं बल्कि उसे अच्छा ही मालूम होता है, बहुत अच्छा मालूम होता है। दूसरे मेरी नक़ल कर रहे हैं। और इसमें शक नहीं कि श्रीकान्त का दिमाग़ और चीज़ों की तरह इस चीज़ में भी बहुत अच्छा

चलता है। श्रीकान्त ज़्यादातर रेशम ही पहनता है, लेकिन अगर वह टाट भी पहने तो उसमें ज़रूर कोई न कोई नई बात पैदा कर देगा और कर देता है। क्योंकि जब वह रेशम नहीं पहनता तब टाट ही जैसी किसी चीज़ के कपड़े पहनता है। आम बाज़ार में तो वह कपड़ा दिखाई नहीं देता और अगर हो भी तो कम से कम कोई पहनता तो नहीं। जो कपड़ा सब लोग पहनते हैं वह श्रीकान्त नहीं पहन सकता। यानी यह कि बात डिज़ाइन पर ही नहीं रुकती, मेटीरियल तक पहुँचती है। या तो बेहतरीन रेशम या टाट, बीच की चीज़ नहीं। बीच की चीज़ तो बाक़ी दुनिया पहनती है यानी कुली-कबाड़ी, बाबू, दूकानदार। कहावत मशहूर है कि आदमी अपने कपड़ों से पहचाना जाता है। इस लिये कपड़े ऐसे पहनने चाहिए कि झट पहचान हो जाय कि यह कोई कलाकार जा रहा है।

खाने के मामले में भी यही बात है। श्रीकान्त को सबसे अलग दिखना ही चाहिए। अगर वह देशी लोगों की सोहबत में है तो उसे अंग्रेज़ी खाना चाहिए, सोलहो आने अंग्रेज़ी, आरदब और तब सूप और तब उबली हुई तरकारियां, उबला हुआ गोश्त, या मछली का कटलेट या भुना हुआ गोश्त और तब पुडिंग और तब डेसर्ट, सोलहो आने अंग्रेज़ी खाना, जो खाया भी जाता बाक़ायदा अंग्रेज़ी ढंग से। कांटे-छुरी के इस्तेमाल में भी श्रीकान्त बहुत दक्ष था। देखकर सभी रोब में आ जाते...पूरा साहब है।

कहने की ग़रज़ यह कि श्रीकान्त हिन्दुस्तानियों के बीच साहब और साहबों, हिन्दुस्तानी साहबों, के बीच हिन्दुस्तानी था। जब सब अंग्रेज़ी खाना खा रहे होते तब वह अपना ठेठ

हिन्दुस्तानी खाना पसंद करता, वह चाहे पूरी-तरकारी या दाल-भात ही क्यों न हो, खिचड़ी ही क्यों न हो, और खूब अच्छी तरह हाथ चपोड़ कर खाता और अगर कोई मुंह बिचकाता तो उसे हाथ से खाना खाने के फ़ायदों पर लंबा प्रवचन देता, कहता हाथ से खाना खाने में जो सफ़ाई बरती जा सकती है वह काँटे-छुरी में मुमकिन ही नहीं और फिर आप खाना खा रहे हैं तो इसमें क्या शान है कि खाना आपके हाथ में न लगे, मुंह मे न लगे ? खाने के लिए ही तो सब कुछ है और उसे भी अगर आप चाव से नहीं खा सकते तो आप किस काम के आदमी हैं। आपकी साहबियत आपको मुबारक हो । मुझे अपना हिन्दुस्तानी तरीक़ा ज़्यादा पसंद है, इसमें एक आदिम सौन्दर्य है जिसे आपकी अंग्रेज़ी पट्टे चढ़ी हुई आंखें नहीं देख सकतीं। और जनाब भूलिए मत, जब आपके यह पच्छिम वाले निरे जंगली हूश थे, बर्बर आदमखोर, उसके हजारों बरस पहले हमारी इस भारत भूमि में ऋग्वेद की सृष्टि हुई थी, कालिदास की शंकुतला की सृष्टि हुई थी, जिन्हें आज भी दुनिया देखती है तो अश अश करती है। अजंता के अमर भित्ति-चित्र, एलुरा का स्थापत्य, दक्षिण के अनेकानेक मंदिरों की वे प्राचीन और चिरनवीन, सप्राण मूर्तियां; व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, अश्वघोष, भवभूति, विश्व वाङ्मय के एक से एक अमर रत्न, कलाकार, द्रष्टा आपकी इस पश्चिमी सभ्यता के जन्म के हज़ारो बरस पहिले हो चुके थे। जब आपके ये अंग्रेज़ और फ्रांसीसी और जर्मन, जिनकी नक़ल आप करते हैं, जानते नहीं थे कि भाषा कहते किस चीज को हैं तब हमारे इस भारतवर्ष में पाणिनि नाम का एक आदमी एक नई भाषा

का विधान कर रहा था, एक ऐसी भाषा का जो आज भी ज़िन्दा है। आप क्यों अपने आपको इतना तुच्छ समझते हैं? आप कहते हैं हमारे पास क्या है गर्व करने को? आपको शर्म आनी चाहिए। मैं आपसे पूछता हूँ क्या नहीं है हमारे पास गर्व करने को? आप अभी कितना जानते ही हैं अपने देश को? दुनिया में हर क़ौम अपने ऊपर नाज़ करती है और अपने तौर-तरीक़े बरतती है और इसमें अपनी शान समझती है मगर एक हम हैं जो बंदरों की तरह दूसरों की नक़ल करने में ही अपनी शान समझते हैं!

इतने पर भी न जाने क्या बात थी कि जब कभी भारतीयता का यही अनन्य भक्त असली साहबों यानी गोरी चमड़ी वाले साहबों के बीच पहुँच जाता तो उसकी यह भारतीयता उड़ंछू हो जाती और वह पूरी तरह उन्हीं के रंग में रँग जाता।

मगर इस सब के बाद भी कहना ही पड़ेगा कि श्रीकान्त के पास बहुत अच्छी कला की रुचि थी। उसके कमरे की सजावट देखने की चीज़ होती थी। वैसी चीजें मुमकिन है दूसरों के यहाँ भी मिल जायें, उससे अच्छी चीजें भी मिल सकती थीं, मगर उनकी सजावट श्रीकान्त की अपनी बात थी; वह कहीं और न मिल सकती थी।

कमरे के बीचों-बीच एक निहायत खूबसूरत कशमीरी क़ालीन बिछा होता था। एक कोने में ईज़ेल जिस पर वह तसवीर बनाता था। दूसरे कोने में एक नीचा और लम्बा सा तख्त जिस पर प्लायोफोम का गद्दा बड़े खूबसूरत, चटख रंगों के, ओरियंटल डिज़ाइन या सबसे नये फैशन के, वही पुरानी गुफ़ाओं में मिली हुई आदिम चित्र कला के से आदमी और

घोड़े या बंगाली-मरहठी लोक कला के नमूने की छपाई वाले कपड़े से ढंका हुआ, और दीवारों पर चार छः बहुत सुन्दर चित्र, जो उसके चित्रकार मित्रों ने उसे भेंट किये थे। और सम्पूर्ण शीशे की बनी हुई एक नाजुक छोटी सी आलमारी में तरह तरह की छोटी-छोटी मूर्तियाँ, चूड़ियाँ, सिक्के, मुहरें वगैरह जो उसने प्राचीन स्थानों की अपनी यात्राओं में जमा की थीं और चटकीले रंगों के, प्रकृति के हाथों तराशे हुए रंग-बिरंगे पत्थर और पचीसों आकार-प्रकार के शंख। श्रीकान्त को इन सब चीज़ों का बड़ा शौक़ था और शौक़ ही नहीं था समझ भी थी। उसके कमरे की एक एक चीज़ में और उसके रख-रखाव में, सजाने में उसकी परिष्कृत रुचि की छाप थी। उसके कमरे के दरवाजे पर और खिड़कियों पर जो पर्दे थे उन पर उसने अपने हाथ से चित्र बनाया था और वह तीनों पर्दे मिल कर बंगाल के गाँव का एक सम्पूर्ण चित्र बनाते थे। ऐसे कई सेट उसने बना रखे थे जिन्हें वह बड़े हिसाब से बदल दिया करता था। और फिर उसका फूलों का शौक़ तो ऐसा नायाब था कि क्या कहिए। उसे अपने बग़ीचे में अपने हाथ से काम करना पसन्द था। बाग़बानी की उसकी जानकारी अच्छे से अच्छे माली को अचंभे में डाल देने के लिए काफ़ी थी। उसे तमाम देशी और विलायती फूलों का सब हाल मालूम था। और फिर उनको गुलदानों में सजाना, फूलों की तराश, फूलों और पत्तियों का मेल, रंगों का मेल, इस सबकी अद्भुत प्रतिभा थी उसमें। उसके हाथ के सजे हुए गुलदान भी कला की कृति होते थे। उसके अंदर न जाने क्या जादू था कि उसका हाथ लगते ही वह फूल जैसे बोलने लगते थे, उनमें एक नई बात पैदा हो जाती थी। और हमेशा

वह अपनी सजावट में कोई न कोई नयापन ईजाद करता रहता। वह कोई भी चीज़ हो उसे हर वक्त नयेपन की भूख रहती थी। हर नई चीज एक दो बार के बाद उसके लिए बासी पड़ जाती और तब उसे कोई नया अंदाज़ ईजाद करना पड़ता क्योंकि, चाहे अपने में चाहे दूसरे में, उसे बासी अंदाज़, पिटी हुई रविश क़तई ज़हर मालूम होती थी। अपने आप को दुहराना उसके लिए मौत थी। इसी लिए उसकी हर चीज़ में हमेशा एक नयापन, एक ताज़गी रहती थी और शोक़ीन तबीयत के लोग, ज़्यादातर फैशनेबल लड़कियां, ब्याही और बिनब्याही, उसके कमरे की सजावट देखने और उससे कुछ सीखने पहुँचा करती थीं। एक बार वह पहुँचती हैं तो देखती हैं कि कमरे में चार गुलदान हैं और सब अलग अलग ढंग से सजे हुए हैं और दूसरी बार पहुँचती हैं तो देखती हैं कि एक भी गुलदान नहीं है और फूल दीवारों का सिंगार कर रहे हैं और तीसरी बार पहुँचती हैं तो देखती हैं कि कमरे की हर चीज़ बाहर कर दी गई है और यहाँ-वहाँ कलाकार की सुबुक उंगलियों के हल्के से स्पर्श से उस सूनेपन में एक अजीब ही खूबसूरती पैदा कर दी गई है। श्रीकान्त का यही ढंग था और वह लड़कियां जब साथ बैठतीं तो आपस में श्रीकान्त की चर्चा करतीं और उसकी इस प्रतिभा पर आश्चर्य करतीं क्योंकि खुद उनकी पहुँच वहां तक न थी।

बेला भी जब पहली बार रनजीत के साथ श्रीकान्त के यहां जाकर कुछ रोज़ रही थी, तब उसे भी यही आश्चर्य हुआ था। वह खुद ऊंचे घर की थी और उसके डैडी को भी फूलों का, सजावट का बहुत शौक़ था और उसके यहां हर चीज़

ज़्यादा बड़े पैमाने पर होती थी और उसके पीछे पैसे की ज़्यादा बड़ी ताक़त होती थी, मगर जो बात श्रीकान्त ने अपने कमरों में पैदा कर दी थी, खासकर अपने स्टूडियो में जहां वह काम करता था, वह बात बेला ने कभी अपने घर में भी न देखी थी। पैसे का ज़ोर ही तो सब कुछ नहीं, कलात्मक रुचि सबसे बड़ी चीज़ है और उसमें यह आदमी डैडी से भी आगे है, बहुत आगे। मैंने तो ऐसी रुचि का आदमी ही इसके पहले नहीं देखा, सच बात है—उस वक़्त बेला ने सोचा था। और जैसे जैसे उसने श्रीकान्त को और पास से देखा वैसे वैसे श्रीकान्त के लिए उसकी श्रद्धा बढ़ती गयी। यह कोई छोटी बात नहीं है। श्रीकान्त सच्चा कलाकार है।

मगर उस पहले परिचय में ही बेला को एक और चीज़ दिख गई थी, श्रीकान्त के जीवन का अंतर्विरोध, खुद अपने घर में। क्यों कि श्रीकान्त की कलात्मक रुचि जितनी ही परिष्कृत थी, उसकी पत्नी कमला उतनी ही उससे शून्य थी, एकदम फूहड़। न तो उसने अपने आपको श्रीकान्त के साँचे में ढालने का कोई यत्न किया था और न श्रीकान्त ने ही। नतीजा था कि जितने कमरे श्रीकान्त के अपने काम में आते थे उनका एक रंग था और जिन कमरों का वास्ता कमला और उसके तीन बच्चों से था उनका एकदम दूसरा ही रंग था। पति-पत्नी का सम्बन्ध भी कुछ यों ही सा था। कमला की ज़िन्दगी कमला की ज़िन्दगी थी, श्रीकान्त की ज़िन्दगी श्रीकान्त की ज़िन्दगी। न वह श्रीकान्त की ज़िन्दगी में टांग अड़ाती और न श्रीकान्त उससे कोई बहस रखता। और दोनों एक तरह से प्रसन्न थे। कम से कम कमला तो अपने तीन बच्चों और एक होने वाले चौथे बच्चे और अपने दाल-

भात और नौकरों पर अपनी डांट-फटकार समेत काफ़ी प्रसन्न थी। यही उसके नज़दीक गार्हस्थिक सुख था और वह उसे पूरी मात्रा में मिला हुआ था। श्रीकान्त की बात श्रीकान्त जाने। वह मर्दों की बात है।

और श्रीकान्त दो दिन बाद यहीं होगा। कितने महीनों से मैंने उसे नहीं देखा। कौन जाने अबकी उसका क्या रंग ढंग हो। हर बार ही तो उसका एक नया चोला होता है। श्रीकान्त सचमुच कलाकार है। कैसी विलक्षण प्रतिभा, कैसी परिष्कृत रुचि, कितना सहृदय, कितना रसिक। और कैसी अंतर्भेदिनी हैं उसकी आंखें! जैसे शरीर को भेदकर आत्मा तक पहुँच जाती हों। कैसे बतलाऊं मुझे कैसा लगता है। जब वह अपलक देखने लगता है तो जैसे मेरे सारे आवरण झर जाते हैं और मैं खुद को ही नंगी लगने लगती हूँ। और मैं अपने शरीर को चुराने लगती हूँ और जितना ही चुराती हूँ उतना ही वह जैसे और नंगा हो जाता है। न जाने कैसा एक जादू है उसकी आंखों में, मैं आज तक उसे समझ नहीं पायी। मनाती रहती हूँ कि वह न देखे मेरी ओर अपनी उन आंखों से मगर वह कब मानता है। उसे पता है अपनी आँखों के जादू का। और होना भी चाहिए चित्रकार की आंखों में जादू। अगर यह जादू न हो तो वह मुर्दा चीज़ों को ज़िन्दा कैसे करे? एक ठूंठ खड़ा है, उसे मैं देखती हूँ, आप देखते हैं, दुनिया देखती है मगर देखकर भी जैसे नहीं देखती। और उसी ठूंठ को चित्रकार देखता है और अपनी तूली में रंग भरकर उसे काग़ज़ पर उतार देता है... ...और ठूंठ जिन्दा हो जाता है। आप उस तसवीर को देखते हैं और हैरान रह जाते हैं क्यों कि उसके पहले कभी आपने

उस ठूंठ को उस शकल में नहीं देखा था। ठूंठ वही है मगर फिर भी वही नहीं है। उसे अब आप चित्रकार की आंखों से देख रहे हैं। चित्रकार ने उसमें जान डाल दी है, उस ठूंठ के मुंह में ज़बान दे दी है और वह आपसे और हर आदमी से अलग अलग बोलने लगा है और अगर आपके कान है तो आप साफ़ सुन सकते हैं वह अपनी मोटी भारी आवाज़ में क्या कह रहा है—

मैं एक कंकाल हूँ, प्रेत हूँ। कभी मैं भी हरी हरी पत्तियों से लद उठता था। कभो मुझमें भी कोंपलें आती थीं। कभो मेरी शाखों पर भी कोयल बोलती थी। कभी मेरी छांह में भी बटोही पसोना सुखाते थे और पालकी के कहार नयी दुल्हन की पालकी उतारकर बिदेसिया की कटार जैसी लंबी तेज़ तान छेड़ते थे जो मेरे सीने में भी घाव कर जाती थी। मगर अब वह सब कुछ भी नहीं है। वह मेरा हरा-भरा अतीत है जो न जाने कब का झड़ चुका है। अब तो मैं बस ठूंठ हूँ, कंकाल, प्रेत—और ऐसा ही रहूँगा। मैं मर चुका हूँ इसलिए अमर हूँ, जी चुका हूँ इसलिए जीवन का दर्शक हूँ।

श्रीकान्त ऐसा ही समर्थ कलाकार है और दो दिन बाद यानी बस कल छोड़कर परसों वह मेरे पास होगा।

बेला की खुशी समा नहीं पा रही थी और चूँकि कोई ऐसा न था जिसके संग वह उसे बांट सकती, सांस की तरह भीतर ही भीतर घुटकर वह खुशी पीड़ा बन गयी थी। अब तक न जाने कितनी बार वह उस पत्र को पढ़ चुकी थी और हर बार उसे एक नया रस मिलता था। किसी और के न मिलने पर वह अब तक पांच बार कुमी को यह समाचार दे चुकी थी कि उसके

श्रीकान्त चाचा दो दिन बाद लखनऊ आ रहे हैं। उस एक ज़रा सी चिठ्ठी ने जैसे उसकी ज़िन्दगी का रंग ही बदल दिया था। अब कहीं न थी ऊब, कहीं न थी थकान। ज़िन्दगी का मटमैला भूरा रंग चटख लाल रंग में बदल गया था। वह हर वक़्त का चिड़चिड़ाना और कोसना, अपनी किस्मत को, रनजीत को, दुनिया को, सब न जाने कहाँ हवा हो गया था और चौदह पंद्रह साल की चंचल किशोरी जैसा उत्साह उसके अंग अंग में भर उठा था। यह क्या हो जाता है आदमी को, कुछ समझ में नहीं आता। पुनर्जन्म क्या कुछ ऐसी ही चीज़ है कि जब जीने की एक अंतःप्रेरणा चुक जाये तब दूसरी आकर उसकी जगह ले ले?

श्रीकान्त रंगों और रेखाओं का ही धनी नहीं, शब्दों का भी वैसा ही धनी है। अपने चित्रों की और दूसरों के चित्रों की वह कैसी अच्छी व्याख्या करता है। उसने एक बार कहा था, भगवान की सृष्टि का एक न एक दिन अन्त हो जाता है मगर कलाकार की सृष्टि सदा वैसी ही रहती है, अजर, अमर, अनन्त...कितनी अच्छी बात कही उसने। श्रीकान्त वास्तव में अद्वितीय प्रतिभा का कलाकार है। उस की आंखों में जादू है और उसकी उंगलियों में जादू है...और इन्हीं दो से तो चित्रकार काम करता है। जिस चीज़ को वह छू देता है वह जैसे लौ देने लगती है...

और अनजान में ही बेला बेंत की लता की तरह सिर से पैर तक कांप गयी। उसका मन हरिण श्रीकान्त के संग कुलांच भरने लगा......

आर्यों के जो चित्र मैंने देखे हैं, श्रीकान्त बिल्कुल वैसाही है, उसी साँचे में ढला हुआ। वैसा ही लहीम-शहीम, वैसे ही विशाल रक्तिम नेत्र, वैसा ही तपे सोने का रंग, वैसा ही दीर्घ वक्ष, प्रशस्त ललाट, वैसी ही सांचे में ढली हुई नाक, वैसे ही पतले पतले गुलाबी ओंठ और वैसे ही बाल कुछ सुनहरापन लिये हुए। ऐसी सुगठित देह कि देखकर आंखों को सुख मिले। मगर कितना अस्थिर, कितना चंचल है वह कि जैसे पारा भरा हो शरीर में......मैंने एक बार मुश्कें नापी थीं! मेरे तो दोनों हाथो में भी नहीं अंटीं!

श्रीकान्त साधारण कलाकार नहीं है। उसके चित्रों की प्रदर्शिनी विदेशों तक में हो चुकी है। मगर इतने पर भी इतना भोला है श्रीकान्त कि बच्चा भी उसे ठग ले। वह तो अपनी कला की दुनिया में रहता है, दुनिया की बातों से उसे क्या वास्ता। उसे तो जीवन-संगिनी ऐसी मिलनी थी जो उसे सांसारिक झंझटों से बिलकुल मुक्त कर देती और वह निद्वंन्द होकर अपनी कला की साधना कर सकता। मगर कहाँ। उस ओर से तो वह निपट भाग्यहीन है। उसकी पत्नी ऐसी मिली है जो उसे नून तेल लकड़ी के बंधन से छूटने ही नहीं देती। वह चाहती है कि श्रीकान्त उसी खूंटे से बंधकर रहे मगर सच्चा कलाकार क्या कभी इस तरह बंधकर रह सकता है? उसे तो मुक्त वायु चाहिए, मुक्त आकाश चाहिये। वह तो अपनी कला के लिए जीता है। वह कभी उसकी हत्या नहीं कर सकता। अपने प्राणों का मूल्य चुका कर भी सच्चा कलाकार अपनी कला की रक्षा करता है। क्या मैं जानती नहीं कि श्रीकान्त के हृदय में कितनी पीड़ा है। उसका हृदय रोता रहता है, तब भी वह शान्तिपूर्वक अपना काम किये

जाता है पर मैं जानती हूँ कि वह शान्ति, वह निस्संगता छल है, अपने साथ उसका छल। मैं जानती हूँ वह क्यों घर से भागे भागे फिरते हैं। भाग्य बड़ा निष्ठुर होता है; वह किसी के संग न्याय नहीं करता। भावुक हृदय वालों के संग तो और भी नहीं। उन्हें पीड़ा पहुँचने में शायद उसे विशेष रस मिलता है। तभी तो वह एक न एक उपाय ऐसा निकाल ही लेता है जिसमें वह निरंतर कलाकार के मर्म में काँटा चुभो सके। पर सच्चा कलाकार वह है जो इतने पर भी हार नहीं मानता और अपनी पीड़ा को अपने हृदय का गान बना लेता है और अपने मर्म से टपकते हुए लोहू से अपने चित्रों में रंग भरता है।

यह मेरा सौभाग्य है कि श्रीकान्त ने मुझे इस योग्य समझा कि अपना हृदय मेरे सामने खोला। वर्ना मैं किस योग्य हूँ? उसको देखते तो निपट निरक्षर हूँ। पता नहीं उसको मेरे अन्दर ऐसी कौन-सी चीज़ मिली? सब उसकी आंखों की बात है। मैं तो बस इतना जानती हूँ कि मन का मेल बड़ी चीज़ है। मन मिल जाय तो समझो सब कुछ मिल गया और मन नहीं मिला तो कुछ भी नहीं मिला। लगता है हम दोनों का मन मिल गया है। प्यार मैं उसे नहीं कह सकती। पर उसके पास होने से जैसे मन की भूख मिटती है, जीवन का सारा रीतापन जैसे भर उठता है। कोई मुझसे पूछे कि क्या तुम श्रीकान्त से प्रेम करती हो? तो मैं निःसंकोच कहूंगी नहीं और वह झूठ भी न होगा। लेकिन अगर श्रीकान्त कहे तो मैं उसके लिए प्राण भी दे सकती हूँ...अगर उसका कुछ उपयोग हो उसके लिए। श्रीकान्त मेरा प्रेमी नहीं जीवन-स्वप्न है...

और तब उसे याद आयी श्रीकान्त के संग उस वर्ष उसकी पहाड़ की सैर।

हिमालय वास्तव में स्वर्ग है, देव भूमि। कल्पना का, स्वप्न का समस्त सौन्दर्य वहाँ रूपायित हो उठता है। वह हरी-हरी पहाड़ियां, वह उनकी छाती से झरते हुए दूध के झरने और वह चारों ओर बांज और चीड़ और देवदार के जंगल। कितना ऊंचा, कितना सीधा, कितना सुघर होता है यह चीड़ का पेड़, जैसे ज़मीन से लेकर आसमान तक एक सीधी लकीर चली गयी हो। यों अकेले भी चीड़ का पेड़ खड़ा हो तो काफी खूबसूरत नज़र आता है मगर चीड़ का जंगल हो तो उसकी खूबसूरती का क्या कहना। ऐसा मालूम होता है कि जैसे

किसी कारीगर ने पहाड़ी के ढलवान पर बारहदरी बनायी हो और ये चीड़ के पेड़ उसके खंभे हों, बराबर फासले पर, तीर की तरह सीधे और उनके बीच की ज़मीन बादामी रंग की सुई-जैसी पत्तियों से ढंकी हुई, जैसे क़ालीन बिछी हो। कैसा मज़ा आता है उस पर दौड़ने में! हमारी कोई उम्र थोड़े ही थी उस पर दौड़ने की, मगर श्रीकान्त का ही जी नहीं माना। उसने कहा, बेला, तुम इस पर दौड़ो तो मुँह के बल गिरो। मैंने कहा, बड़े आये! अगर तुम दौड़ सकते हो तो मैं भी दौड़ सकती हूँ। मुझे बुढ़िया समझ लिया है...

श्रीकान्त ने बड़े रहस्यमय नेत्रों से मुझे देखते हुए कहा—अंधा होगा जो तुम्हें बुढ़िया कहे बेला, मगर तुम दौड़ नहीं सकतीं इस पर, इतना मैं जानता हूँ।

मैंने कहा—पहले तुम दौड़कर दिखाओ।

श्रीकान्त ने कहा—अच्छा, और दौड़ पड़ा और कोई बीस दम जाकर ऐसी ज़ोर से फिसला कि बचते बचते भी गिर पड़ा। और मैं हँस दी—यही शान बतला रहे थे...!

श्रीकान्त खिसिया गया पर वह हार माननेवाला कब था, बोला—अच्छा अबकी सही। कहो तो दौड़कर उस पेड़ को छू लूं। और क़रीब सौ गज़ दूर एक पेड़ की तरफ इशारा किया। तमाम पेड़ ही पेड़ थे, मैं इशारा समझी नहीं। मैंने कहा, कौन पेड़? उसने कहा, वह जो दूर पर है, देखतीं नहीं, जिस पर वह चिड़ियाँ चहचहा रही हैं। मैंने कहा, अच्छा छुओ... इस बार श्रीकान्त बहुत सधे हुए क़दमों से दौड़ा और बिना गिरे-पड़े मंज़िल पर पहुँच गया और फिर वहीं से आवाज़ दी—हां, अब तुम्हारी बारी है, बेला।

दूर दूर तक कहीं कोई आदमी न था और हम दोनों दो बच्चों की तरह चीड़ की सुइयों के उस मोटे क़ालीन पर दौड़ रहे थे। पागलपन नहीं तो और क्या था, उस वीरान जंगल में उस वक़्त इस तरह...मगर कब कब करने को मिलता है यह पागलपन!

मैं भी दौड़ी और पचीस-तीस गज़ दौड़ गयी, फिसली तो मगर सम्भल गयी। श्रीकान्त वहीं खड़ा खड़ा हुर्रा हुर्रा कर रहा था। मगर फिर दो ही क़दम बाद मैं गिर पड़ी। श्रीकान्त दौड़ा आया—चोट तो नहीं लगी?

—नहीं। साड़ी में पैर फंस गया।

श्रीकान्त ने मेरा हाथ पकड़कर उठाते हुए नटखट बच्चे की तरह ठुनककर कहा—बड़ी दुश्मन साड़ी है। और अजीब तरह से मुझे देखा। मैं डर गयी। और तब श्रीकान्त ने न कुछ कहा न सुना और उसी तरह मुझे अपने हाथों में उठा लिया और बोला—कहो तो तुम्हें लेकर दौड़ जाऊँ?

मेरा दिल ज़ोर से धड़क रहा था। मैंने कहा, नहीं नहीं। मगर वह कब मेरी सुनने वाला था। उसने मुझे अपनी मज़बूत बांहों में लेकर अच्छी तरह अपने सीने से चिपका लिया और दौड़ने लगा और मेरा दिल धड़कता रहा और मैं नहीं नहीं करती रही और एक गुलाबी-से नशे में मेरा अंग-अंग शिथिल हो चला। उसने मुझे ज़मीन पर उतारा तो मैंने कहा, तुम बड़े बुरे हो!

श्रीकान्त ने हंसते हुए कहा—यह आज तुमने जाना! ... फिर बात बदलते हुए बोला, देखती हो वह देवदारों की क़तार। कितना हरा और हर डाल ऐसी कि जैसे पत्तियों का बिछौना हो, क़ायदे से बिछा हुआ, एक डाल पर दूसरी डाल जैसे रेल की एक बर्थ पर दूसरी बर्थ। कितना अच्छा नाम दिया है इसे हमारे पुरखों ने देवदारु यानी देवताओं का वृक्ष। इन्हें देखो और लगातार देखते रहो तो तुम धीरे धीरे जैसे किसी दूसरे लोक में पहुँच जाते, जो स्वप्न का लोक है जहाँ तुम्हारा पार्थिव परिवेश कहीं दूर, नीचे छूट जाता है। यह पेड़ मुझे कभी इस ज़मीन की चीज़ नहीं लगता। तुम हँसना मत, मुझे यह देवदार हमेशा एक तसवीर-सा नज़र आता है जिसे किसी महान् चितेरे ने अपने बुरुश के दो चार आघातो से हवा

में आँक दिया है। तुमने कभी चाँदनी में देखा है इस पेड़ को ? चाँदनी हर चीज़ पर अपना जादू बिखेर देती है मगर यह पेड़ तो जैसे उस जादू को पीकर हवा में तैरने लगता है, उसके तंतु तंतु में जैसे चाँद की किरनें लिपट जाती हैं। इतना सुन्दर, ऐसा अभिजात वृक्ष दूसरा नहीं है। मैं अपने चित्रों में उसके इस जादू को पकड़ूँगा। कभी देखना, देवदार की टहनियों के बीच से, चाँद भी और लुभावना लगता है, जैसे झरोखे में से किसी सुन्दरी का मुख...

मैंने कहा—तुमको तो कवि होना चाहिए श्रीकान्त।

श्रीकान्त ने कोई जवाब नहीं दिया। वह उसी तरह अपने ध्यान में डूबा रहा। तब तक हम लोग एक झरने पर पहुँच गये।

दूर पर पहाड़ थे। चारों ओर जंगल थे, निर्जन, निस्तब्ध, एकांत, जिसमें बस चिड़ियों का चहचहाना और चीड़ के पेड़ों की तेज़ आहें और धीमी-धीमी कनबतियाँ सुनायी दे रही थीं। तीसरे पहर का वक्त था, दूर दूर तक एक आदमी न था और हम दोनों, श्रीकान्त और मैं, झरने में पैर डाले बैठे थे और न जाने क्या सोच रहे थे, न जाने क्या देख रहे थे। बड़ी देर तक हम लोग इसी तरह ख़ामोश बैठे रहे मगर उस खामोशी में अनमनापन नहीं था, एक अनोखी उपलब्धि थी, एक अजीब भराव था, न मेरा उठने को जी चाह रहा था न बोलने को। मुझे ऐसा लग रहा था जैसे उस परिवेश की मोहिनी ने मेरा अंग अंग जकड़ दिया हो।

उस मौन को तोड़ा श्रीकान्त ने—यह हिमालय की गोद है, बेला...

मैंने भी वैसे ही अप्रस्तुत ढंग से कह दिया—हाँ श्रीकान्त, यह हिमालय की गोद है...

और तब श्रीकान्त मुझसे एकाएक पूछ बैठा—सच कहो बेला, तुम सुखी हो ?

मैं कोई जवाब न दे सकी।

श्रीकान्त ने कहा—बोलतीं क्यों नहीं ?

मैंने कहा—मैं कुछ और सोच रही थी।

श्रीकान्त ने पूछा—क्या ?

मैंने कहा—यही कि पहाड़ कितने सुन्दर हैं...

श्रीकान्त ने कहा—तुम झूठ बोल रही हो।

मैंने कहा—क्या तुम कभी झूठ नहीं बोलते ?

श्रीकान्त ने कहा—कब तक बचोगी इस सवाल से ?

मैंने कहा—बहुत दिन हुए एक बार मैंने अपने-आप से यह सवाल पूछा था, उसके बाद फिर नहीं पूछा। जो है वह है।

श्रीकान्त ने कहा—यह कोई जवाब नहीं है।

मैंने कहा—मैंने कब कहा कि मैंने जवाब दिया। यह प्रश्न ही व्यर्थ है, उतना ही व्यर्थ जितना कि अगर मैं पूछूँ, तुम सुखी हो ?

श्रीकान्त ने कहा—तो मैं कहूँगा हाँ...

मैंने कहा—और तुम भी जानते हो कि यह झूठ है। झूठ की कोई एक क़िस्म नहीं होती।

श्रीकान्त ने कहा—तुमने मेरी पूरी बात नहीं सुनी। मैं कहने जा रहा था कि हाँ, इस क्षण तो हूँ और अगले क्षण की मुझे चिन्ता नहीं...

मैंने कहा—यह झूठ है, आत्म-वंचना है। काल मरता नहीं...

श्रीकान्त ने कहा—पर काल के उस महार्णव में क्षण भी तो है?

मैंने कहा—बूँद के समान, जिसका कोई अस्तित्व सागर से हटकर नहीं है, जिसमें रेत के चार दानों को भी गीला करने की शक्ति नहीं...

श्रीकान्त ने कहा—यहीं तुम भूल करती हो बेला। काल की बूँद पानी की बूँद नहीं होती। बहुत बार काल की एक बूँद पूरे एक रेगिस्तान को सींच देती है। क्योंकि काल के साथ स्मृति भी है।

न जाने कौन मेरे अन्दर से बोल पड़ा–स्मृति अभिशाप है।

श्रीकान्त ने कहा—आशीष भी हो सकती है।

मैंने कहा—होगी। मैं नहीं जानती।

श्रीकान्त ने कहा—मैं सदा याद करूँगा आज का यह अमर क्षण जिसमें तुम हो, मैं हूँ, यह जंगल है, यह झरना है, यह नीला आकाश है, दूर से टेरती हुई यह रुपहली बर्फानी चोटियाँ हैं और यह गम्भीर निस्तब्धता है। कुछ क्षण अमर हो जाते हैं।

—और वह सब अच्छे ही क्षण नहीं होते! अमरता की सिद्धि भूतों को भी मिली हुई है। मैं कैसे भूल जाऊँ अपने अतीत को, अंधा, अमार्जनीय...

श्रीकान्त ने कहा—कुछ भी अमार्जनीय नहीं है बेला, बस एक काला पर्दा...

मैं चुप हो गयी। कोई जवाब नहीं दिया। क्षण की अमरता कविता है जीवन नहीं। जीवन कुछ और है।

मुझे याद है मैंने उस वक्त श्रीकान्त की बात काट दी थी, मगर आज सोचती हूँ कि उसकी बात में सत्य था। अगर वह क्षण अमर नहीं था तो आज भी मरा क्यों नहीं? आज भी क्यों मेरी सांस-सांस में रची हुई है वह पागल हवा, वह ठंडा पानी, वह ख़ामोश जंगल, वह चमकती हुई नीली, बर्फ़ की चोटियां, वह पेड़, वह फूल, वह ठंडक, वह गुदगुदी, वह गम्भीर एकान्त, वह मौन, वह रोमांच, भय का और आनन्द का—वह सब कैसे मिटा नहीं आज भी? वह चीड़ के जंगल में हमारा दौड़ना, वह झरने के ठंडे पानी में पैर डालकर बैठे रहना, वह श्रीकान्त का मुझे अपनी बांहों में उठाकर दौड़ना और छपाछप भिगो देना क्यों नहीं भूलता मुझे? उसके बाद तो मनो राख पड़ी है उस पर, तब भी वह आग बुझी क्यों नहीं? क्यों ज़रा सा ही कुरेदने से वह आज फिर धधकने लगी है? वह आग सच है या राख? कब मिटेगा यह द्वन्द्व।

शाम हो चली थी। हम लोग अपने होटल की तरफ़ लौट रहे थे। एक जगह मैंने देखा, जंगली गुलाब की लताओं से एक पेड़ बिलकुल सफेद हो रहा था। भीनी भीनी ख़ुशबू आ रही थी।

मैंने कहा—कैसे अच्छे दीखते हैं ये जंगली गुलाब? इनका एक अलग ही सौन्दर्य है, वन्य...

श्रीकान्त ने कहा—चाहिए? लाऊं?

मैंने कहा—लाने की बात नहीं, मैंने तो यों ही कहा। तुम्हें नहीं अच्छे लगते?

तब तक श्रीकान्त पुलिया पर खड़े होकर उनका एक गुच्छा तोड़ने की तदबीर कर रहा था। फूल रास्ते से काफ़ी दूर पर थे, उन तक हाथ पहुँचना मुश्किल था और बीच में था गहरा, खूब ही गहरा खड्ड। मैंने कहा, क्यों फ़िजूल उनके पीछे जान देते हो श्रीकान्त, वह आसानी से हाथ आने वाले नहीं।

श्रीकान्त ने हलकी-सी मुस्कराहट के साथ कहा—जो फूल आसानी से हाथ आ जाते हैं उन्हें तोड़ने में मुझे रस नहीं मिलता, बेला!

किस क़दर खतरा था उन फूलों को तोड़ने में, मगर श्रीकान्त को तो फूलों से ज़्यादा वह खतरा ही मन को भा रहा था......और आखिर एक न एक उपाय से उसने दो गुच्छे तोड़ लिये, एक मेरे हाथ में पकड़ाया और दूसरा मेरे बालों में लगाने लगा।

मुझे लाज लगी। मैंने कहा, तुमसे नहीं बनेगा, लाओ मैं लगाये लेती हूँ। और हाथ अपने बालों पर ले गयी।

श्रीकान्त ने बनावटी गुस्से के साथ मेरा हाथ अलग करते हुए भारी आवाज़ में कहा, नहीं, मैं लगाऊँगा। अगर मैं इन फूलों से बेजान दीवारों को सजा सकता हूँ तो क्या तुम्हारी इस घनी काली कुन्तल राशि को नहीं सजा सकता जो यों ही इतनी सुन्दर है, इतनी नशीली...कहते हुए उसने पीछे से ही मुझे अपनी बांहों में भरते हुए मेरे बालों को और फिर बालों के नीचे मेरी ग्रीवा को चूम लिया। उसके होंठों के जलते हुए स्पर्श से मैं सिहर उठी।

मैंने कहा—तुम कितने निर्लज्ज हो!

उसने कहा—लज्जा तो तुम्हारा आभूषण है बेला...और हँसने लगा।

मैंने कहा...मैंने कुछ नहीं कहा...एकाएक मुझे ख्याल आया कि यह मैं क्या कर रही हूँ। यहाँ मैं बिस्तर में लेटी लेटी अपनी स्मृतियों को कुरेद रही हूँ और सारा काम करने को पड़ा है। श्रीकान्त को सख्त चिढ़ है इस तरह के घर से और बगीचे में भी दो रोज़ से पानी नहीं पड़ा। रनजीत के कमरे को छोड़ो, बाकी घर भी तो देखो न कितना गन्दा हो रहा है। सबसे पहले तो झाड़ू लगनी चाहिये तमाम कमरों में। कन्हई ठीक से झाड़ू नहीं लगाता। मैं अपने हाथ से झाड़ू लगाऊँगी। गर्द का एक ज़र्रा नहीं रहना चाहिये। ऐसा होना चाहिये कि श्रीकान्त आये तो उसे घर चमकता हुआ मिले, जैसा कि उसे पसन्द है। दरवाज़ों और खिड़कियों के पर्दे शायद एक महीने से नहीं बदले गये। कितने गन्दे हो गये हैं, एकदम तिलचट्टे, पता नहीं यह तेल इनमें कहाँ से लग जाता है। शायद कन्हई आते-जाते हाथ पोंछ देता है। और कन्हई को क्या दोष दूँ, खुद रनजीत साहब भी तो आते जाते हाथ पोंछ लिया करते हैं! मालिक नौकर सब एक से हैं। पता नहीं कहाँ की गन्दी आदत है। सफाई तो जैसे छूकर नहीं गई। ये तमाम पर्दे बदलने होंगे। दूसरे पर्दे होंगे तो! हैं। मगर कुछ फटे होंगे। सी लूँगी।

और बेला जी-जान से घर की सफाई में लग गई। उसके उत्साह को देखकर कन्हई और बैरा दोनों ही को बड़ी हैरानी हुई। आज मेम साहब को एकाएक यह क्या धुन सवार हो गयी। एक बार बावर्चीखाने में झाँकने तक तो आतीं नहीं।

आज यह क्या धुन समायी। चौबीसो घंटे अपने कमरे में बन्द न जाने क्या किया करती है, जो चीज जहाँ पड़ी है, जैसे पड़ी है, पड़ी है। बस एक बागीचा है जिसका मेम साहब को कुछ शौक है। बाकी तो सब भगवान भरोसे पड़ा रहता है। ड्राइङ्ग रूम में तो शायद मेम साहब छः महीने से नहीं गई होंगी। सोफों में बड़े-बड़े छेद हो गये हैं और चूहे उनके अन्दर का भूसा निकालकर कमरे भर में छितराते रहते हैं, किसी को कोई गम नहीं। न जाने कितनी बार मैंने मेम साहब से कहा कि मेम साहब, किसी को बुलाकर इन्हें ठीक करवा लीजिये, मगर कौन सुनता है। घर भर में जाले ही जाले हो गये थे, वह तो पिछले हफ्ते दिन भर लगकर मैंने उनकी सफाई कर दी। मगर सोफों की मरम्मत मैं कैसे करूँ? वह तो किसी और का काम है। मगर कोई करे तब तो। साहब को खाना खिलाने तक के लिये तो आती नहीं, बेचारे रात को थके-मांदे आते हैं और जो कुछ रक्खा रहता है, खा कर सो जाते हैं। ऐसी कुलच्छनी औरत मैंने तो और देखी नहीं। मेरी जोरू ऐसी हो तो मैं तो पीट पीट कर उसका हलुवा बना दूँ। मगर हमारा क्या, हम तो मुरुख गंवार लोग हैं। बड़े लोगों की बड़ी बातें। रत्ती भर दया नहीं है मेम साहब के कलेजे में। जब बात करेंगी डांटकर, सीधे मुँह बात करना ही नहीं आता, जैसे। आँखें हमेशा माथे पर चढ़ी रहती हैं। मैं तो कब का भाग गया होता। जहीं पसीना गिराऊँगा दो रोटी मिल जायगी। मैं तो साहब के मारे पड़ा हूँ। साहब बड़े अच्छे आदमी हैं। सदा बड़े प्यार से बोलते हैं। उनके हिरदय में गरीब का दर्द है। भाग है अपना अपना और क्या। पिछले जन्म का भोग दण्ड है जो ऐसी जोरू मिली।

दूसरी कोई औरत होती तो ऐसे आदमी का चरन धो कर पीती। नहीं तो एक यह मेम साहब हैं कि आदमी की कोई परवाह ही नहीं, जैसे आदमी न हुआ गोबर की चोंथ। रात की रात बेचारे कराहते रहते हैं और इस औरत से यह नहीं होता कि एक बार जाकर पूछ ले कि जी कैसा है, जीते हो कि मर गये। ऐसी औरत से तो आदमी बिना औरत का भला। औरत आदमी अपने आराम के लिये रखता है, कि झूठ कहता हूँ? और यहाँ औरत ऐसी कि हरदम छाती पर सवार। मारे एक घूँसा नाक पर, सब अकल ठिकाने लग जाय...

दोनों नौकर आपस में अटकल लगा रहे थे कि ऐसी कौन सी नई बात हो गयी है या होने वाली है जो मेम साहब को घर की सफाई की इतनी फिक्र पड़ गयी कि खुद ही झाड़ू लेकर जुट गयीं। दोनों अटकल लगा रहे थे मगर कोई ठीक नहीं बैठ रही थी। आखिर काइयां बैरे ने अटकल लगायी जो कन्हई को भी जम गयी—कहीं वह बम्बई वाले साहब तो नहीं आ रहे हैं जो वो तसवीर-वसवीर रंगते हैं? वह आते हैं तो मेम साहब का रङ्ग ही कुछ और हो जाता है...

कन्हई ने कहा—आज चिट्ठी तो आई थी एक। कौन जाने उसी बम्बइया साहब की रही हो। मैंने ही तो ले जाकर दी थी मेमसाहब को। तुमने बात पक्की कही रामलाल, उसी की रही होगी चिट्ठी।

और तब आँखों ही आँखों में कन्हई और रामलाल ने बहुत सी बातें कह डालीं और दबे दबे ढङ्ग से मुस्कराये। बात कन्हई भी समझता था, मगर रामलाल ज्यादा ढीठ था, बोला—

तभी कोयल की तरह कुहुक रही हैं मेमसाहब ।

आप सारी दुनिया से अपने राज़ छिपा सकते हैं, शायद खुद से भी छिपा सकते हैं मगर घर के नौकरों से नहीं छिपा सकते ।

मगर बेला के पास कोई राज़ थोड़े ही था जिसे वह छिपाती, उसके पास तो बस एक खुशी थी जो फूटी पड़ रही थी। वह एक के बाद दूसरे कमरे में झाड़ू लगा रही थी और गुनगुना रही थी। इस वक़्त अगर कोई उसे पहाड़ भी ढकेलने को कहता तो आसानी से ढकेल देती। शाम होते होते सारा घर मांजे हुए बर्तन की तरह चमकने लगा था। धुल पुंछ कर साफ़। सब जगह धुले हुए पर्दे, धुले हुए मेज़पोश लग गये थे। ड्राइंग रूम के भी भाग्य खुल गये थे और गो सोफे अब भी वैसे ही फटे हुए थे मगर उन्हें अच्छी तरह पोंछ दिया गया था, खींच खांचकर उनके ऊपर का कपड़ा बराबर कर दिया गया था, क़रीने से उन्हें सजा दिया गया था, बीच की मेज़ पर एक गुलदान में बाग़ीचे से कुछ फूल लाकर सजा दिये गये थे, तसवीरों पर पड़ी हुई धूल पोंछ दी गयी थी और दो एक तसवीरें जो एकाध कील निकल जाने से टेढ़ी-मेढ़ी झूलने लगी थीं उन्हें सीधा कर दिया गया था, एक कोने में कुछ अगरबत्तियां जला दी गयी थीं जिनसे कमरा सुवासित हो उठा था। यानी श्रीकान्त की अगवानी के लिए बेला अब अच्छी तरह तैयार थी, कील कांटे से लैस। बस अब बागीचे का काम बाक़ी था। उसे कल करूंगी। सबेरे से लग जाऊंगी तो तीन चार बजे तक ठीक हो जायेगा यानी जहाँ तक यह उजड़ा हुआ बाग़ीचा ठीक हो सकता है। ऐसा तो वह क्या ही बन सकेगा

कि सचमुच श्रीकान्त को भाये, मगर फिर भी कुछ न कुछ तो ठीक हो जायेगा ही, कम से कम झाड़-झंखाड़ नहीं रहेंगे, गमले पुतकर नये हो जायंगे, क्यारियां तर हो जायेंगी, घास जो बहुत सूखी हुई है वह भी तर हो जायेगी। और सब ठीक है। श्रीकान्त ने जो पौदे मेरे संग लगवाये थे वह तो काफ़ी अच्छी हालत में हैं। वह उस कोने में सामने की तरफ़ जो रजनी-गंधा है वह श्रीकान्त की ख़ास चहेती है। उसके बल्ब भी उसी ने कहीं से लाकर दिये थे। वह तो बहुत अच्छी फूल रही है। देखने में जैसी सुन्दर है उसकी सुगंध भी वैसी ही है। कितनी भीनी, कैसी मादक। अपनी रजनीगंधा को देखकर श्रीकान्त बहुत प्रसन्न होगा। उसके दिये हुए डेलिये खूब ही बड़े बड़े हुए हैं। अभी उस रोज़ मिसेज़ चैटर्जी आयी थीं। मेरे डेलिये देखकर दंग रह गयीं। कहने लगीं, इतने बड़े डेलिये तो मैंने फ्लावर शो तक में नहीं देखे। ग्लैडियोलस भी बुरा नहीं हुआ है। बहुत अच्छे, मोटे दलवाले फूल आये हैं। देखने में यह ग्लैडियोलस कुछ कुछ रजनीगंधा जैसा होता है, मगर एकदम निर्गन्ध। कार्नेशन, पेटूनियां, नैस्टर्शियम सभी थोड़े थोड़े हुए हैं। जगह ही कितनी है। इसी लिए तो मैंने गुलाब नहीं लगाये। गुलाब के लिए और भी बड़ी जगह होनी चाहिए ताकि दस बीस क्यारियां गुलाबों ही गुलाबों की हों। गुलाब सेवा भी सबसे ज़्यादा मांगता है। जो है सब ठीक है। इससे ज़्यादा कुछ नहीं हो सकता। अकेले दम पर बस ऐसी ही छोटी मोटी चीज़ हो सकती है। बड़ी चीज़ करनी हो तो बड़ी जगह लीजिए, बड़े पैसे ख़र्च कीजिए। मेरे घर में तीन माली थे। मगर अब क्या रक्खा है उस बात में! मुझे तो

वैसी कोई दिलचस्पी भी अब नहीं रही। बैठे ठाले का एक हीला है। खुरपी लिये यहाँ-वहाँ कुछ करती रहती हूँ। वक़्त भी कट जाता है, दो चार फूल भी हो जाते हैं। न इससे ज़्यादा कुछ हो सकता है और न मुझे हविस ही है...

और बेला के मुंह से एक सर्द आह निकल गयी। पर उसने तुरन्त अपने आप को सम्भाल लिया।

...काफ़ी देर हो गयी शायद! ठंडक बढ़ गयी है। साढ़े छः से ऊपर होगा। गेरू मंगा लेना चाहिए। सभी दूकानें देर से खुलती हैं और काम सबेरे शुरू हो जाना चाहिए तब कहीं जाकर शाम तक हो पायेगा। बंबई मेल शायद सात बजे आता है। कन्हई... कन्हई...कन्हई भागा आया—जी मेमसाहब?

—पास में कहीं गेरू मिलेगा? लपककर चार पैसे का लेते आओ—सबेरे सब गमले पोतने होंगे।

झाड़-पोंछ में सारा दिन लग गया था। एक मिनट को भी बेला ने आराम नहीं किया था। मगर उसे नाम मात्र को भी थकान नहीं हुई थी। और जो थोड़ी बहुत थकान हुई भी थी वह गरम पानी के स्नान से ग़ायब हो गयी थी। बेला ने कुमी को खाना खिला दिया। मगर खुद नहीं खाया। और अपने बिस्तर में लेटकर एक अंग्रेजी उपन्यास पढ़ती रही। पढ़ते पढ़ते कितना वक़्त निकल गया उसे पता ही न चला जब कि मोटर की पों पों उसे कहीं दूर से आती सुनायी दी और वह चौंककर

उठ बैठी। हाँ, रनजीत ही है। और वह शाल लपेटते हुए फाटक की ओर बढ़ी।

आज बेला कितनी सुन्दर दिखायी दे रही है। रंग भी जैसे और निखर आया है।

रनजीत ने बरामदे में दाखिल होते हुए मुसकराकर कहा—आज तो घर बिल्कुल चमक रहा है...

मगर वह पूरी बात नहीं थी जो रनजीत ने कही। उसके बाद वह कहना चाहता था, किसकी अगवानी के लिए यह सब तैयारी है?...सवाल उसके मुँह में बना, मगर ज़बान तक नहीं आ सका। उसकी हिम्मत नहीं हुई। यह जादू जो दिखाई दे रहा है कहीं छू मंतर न हो जाय। ताश के महल के लिए एक फूँक काफी होती है।

बेला ने रनजीत की बात सुनी और उस प्रश्न की ध्वनि भी सुनी जो पूछा नहीं गया था। उसके मुंह में उस अनपूछे सवाल का जवाब बना—श्रीकान्त का तार आया है। वह परसों यहाँ आ रहा है... मगर वह भी यह बात मुँह पर न ला सकी। उसे लाज लगी। यह कौन ऐसी बात है जिसे सुन कर रनजीत बहुत प्रसन्न होगा। उसके दिल के चोर ने उसकी ज़बान पर ताला जड़ दिया और उसने सिर्फ इतना कहा—हां, आज मैंने घर की सफ़ाई कर डाली। बहुत गन्दा हो रहा था।

न सवाल पूछा गया, न जवाब दिया गया मगर फिर भी बात पूरी हो गयी और उसका तनाव, उसका बोझ रनजीत और बेला दोनों महसूस करने लगे।

रनजीत ने उसके ऊपर उठने की कोशिश की—जिसको जिसमें खुशी हासिल हो...जिसका जिससे मन मिले...

मुहब्बत तो दिल का सौदा है।...इसमें ज़बरदस्ती कैसी।...

उसने अपने मन की ऐंठन दबाते हुए कहा—घर आज बहुत अच्छा लग रहा है, जैसे जान पड़ गई है तुम्हारा हाथ लग जाने से। एक फीकी सी मुस्कराहट बेला के चेहरे पर भी आयी।

रनजीत ने कहा—काफ़ी देर हो गई है। तुम्हें भूख लगी होगी। चलो, मैं भी मुँह हाथ धोकर आता हूँ।

रनजीत अपने मन को समझाने की बहुत कोशिश कर रहा था। मगर बार बार हार जाता था। मन से ज़्यादा निर्मम आलोचक दूसरा नहीं होता। थोड़ी देर को चाहे भले कोई उसे बहला ले, मगर...

रनजीत जब बिस्तर पर लेटा और यों ही अपनी तबियत को बहलाने के लिए धुएं के छल्ले बनाने लगा तब न जाने कहाँ से हर बार श्रीकान्त का व्यंग से मुस्कराता हुआ चेहरा उसकी आंखों के सामने आकर खड़ा हो जाता। वह उसे बार बार उड़ा देता मगर फिर नज़र उठाता तो वही बात, वही एक ही ढंग से मुंह ही मुंह में हंसता हुआ श्रीकान्त, अभी अगर सामने था तो अब ज़रा बाये हट गया है और वहां से हटाया गया तो घड़ी के पेंडुलम की तरह दूसरे छोर पर, दायें को पहुँच गया और वहाँ से भगाया गया तो पलंग के पीछे आकर खड़ा हो गया। कहीं उससे नजात न थी। हारकर रनजीत ने सिगरेट फेंक दी और चाहा कि सो जाय। मगर आँख मूँदने पर भी श्रीकान्त से उसे

मुक्ति नहीं मिली। अब तो वह और भी पास आ गया। एकदम छाती पर ही बैठ गया। रनजीत ने करवट बदली तो श्रीकान्त भी छाती पर से उठकर पलंग से लगी हुई कुर्सी पर बैठ गया। रनजीत ने दूसरी ओर करवट बदल ली तो श्रीकान्त ने अलमारी में से स्टेथस्कोप उठाकर गले में डालते हुए उसका अगला हिस्सा दाहिने हाथ में लेकर कहा—दिल बहुत धड़क रहा है ? लाओ देखूं !

'भाग जाओ' रनजीत ज़ोर से चीख पड़ा और हाथ चला बैठा। मेज़ पर रक्खी हुई दवाएं भड़भड़ाकर गिर पड़ीं। रनजीत की जैसे तन्द्रा टूटी और वह उठकर बैठ गया। हाथ अपने आप सीने पर पहुँच गया। दिल ज़ोरों से धड़क रहा था।

रनजीत ने कहा—यह मुझे क्या हो रहा है...सब मेरे मन का भूत है।

लेकिन इस मन्त्रोच्चार से भी भूत नहीं भागे।

मेरा दिल बहुत कमज़ोर हो गया है। पहले कभी ऐसी कोई चीज़ मुझे न होती थी। ज़रूर मेरा दिल पहले से बहुत कमज़ोर हो गया है। यह ठीक बात नहीं है। इसका ज़रूर कुछ इलाज होना चाहिए। इलाज ?...और उस वक्त भी मायूसी की एक फीकी मुस्कराहट आये बिना न रही।

इलाज किस्मत वालों का होता है। मेरा कोई इलाज नहीं है। मैं खुद भी तो डाक्टर हूँ। अपना इलाज जानता हूँ। मेरा इलाज है मानसिक शान्ति, मेरा इलाज है आराम, मेरा इलाज है हल्का और स्वास्थ्यप्रद खाना। मैं खूब जानता हूँ मेरा इलाज क्या है लेकिन मैं यह भी जानता हूँ कि मेरा इलाज कुछ भी नहीं है। अब इस ज़िन्दगी में मेरा कोई इलाज नहीं हो

सकता। बेकार है कोशिश। जो खुद ही जीना नहीं चाहता उसे कोई डाक्टर कैसे जिलायेगा। जिसका दिल छलनी हो चुका है उसके भीतर जीवन का रस कैसे ठहरेगा! जिस अभागे को मुहब्बत की सुनहरी धूप, मुहब्बत की गर्मी मयस्सर नहीं वह तो यों ही मर चुका है, उसे कब तक कोई ज़िन्दा रखेगा। वह पौदा तो खड़े खड़े सूख जायगा और फिर एक दिन गिर पड़ेगा! मैं खुद नहीं जानता था मुहब्बत की यह धूप ज़िन्दगी के बिरवे को ज़िन्दा रखने के लिए कितनी ज़रूरी है—आज जान रहा हूँ जब वह धूप छिन गयी है और मैं सर्दी से कांप रहा हूँ।

'छिन गयी' कहते ही श्रीकान्त एक बार फिर लक्के कबूतर की तरह इतराता हुआ सामने आ गया और बड़ी ऐंठ के साथ बोला—क्या रोते हो नामर्दों की तरह...छिनेगी नहीं? क्यों नहीं छिनेगी? हमेशा से यही होता आया है, वीर भोग्या वसुंधरा। क्या है तुम्हारे पास जिसे लेकर वह तुम्हारी होकर रहे। तुम पैसे से कच्चे हो और सेहत से कच्चे हो और हिम्मत से कच्चे हो और यही वो चीज़ें हैं जो औरत मर्द में देखती है। ताज्जुब है कि अब तक तुम्हारी समझ में यह बात नहीं आयी। मुहब्बत...मुहब्बत...मुहब्बत। झूठ है। मुहब्बत कोई चीज़ नहीं होती। तुमने कभी देखा कि बेला को जीतने के लिए मैं क्या क्या करता हूँ? नहीं तुमने नहीं देखा। मैं जानता हूँ तुमने नहीं देखा क्यों कि तुम्हारी आंखों पर पट्टी बंधी है, क्यों कि तुमको सच्चाई से आंख मिलाने में डर मालूम होता है। तुम मुहब्बत का राग अलापते हो और उसके ग़म में टेसुए बहाते हो। यह नामर्दों का काम है और मैं मर्द हूँ। औरत की ज़ात बेवफ़ा होती है। वह किसी की होकर नहीं रहती। उसे अपना

बना कर रखना पड़ता है। जो उस पर हुकूमत करता है वह उसकी होकर रहती है। और इसी लिए तुम्हारे अपने घर में तुम्हारी हैसियत एक अजनबी की है और मैं, श्रीकान्त, राज करता हूँ, सम्राट् अशोक की तरह, शहंशाह अकबर की तरह ! घर तुम्हारा है, तूती मेरी बोलती है। तुम्हारी मुहब्बत की रानी मेरे पैरों की जूती है। मैं उससे जो मांगूं वह देगी और जो न मांगूं वह भी। मैं आज चाहूँ तो तुम्हारी बीबी मेरी खातिर तुमको ज़हर दे सकती है। मगर नहीं, मरे को मारना मेरा काम नहीं है। इसी लिये तुम ज़िन्दा हो, जैसे हो, मुंह के बल नाली में गिरे हुए, ज़िन्दगी से बेज़ार, झूठी मुस्कराहट का नक़ाब चेहरे पर चढ़ाये हुए, जब कि तुम्हारा दिल पूरे वक्त खून के आंसू रोता है। तुम्हारी मुस्कराहट झूठी है, तुम्हारे सपने झूठे हैं, जो कुछ तुमने सोचा-समझा सब झूठ है, तुम्हारी ज़िन्दगी खुद एक बहुत बड़ा झूठ है। तुम्हें अब से बहुत पहले मर जाना चाहिए था। अगर तुममें ग़ैरत होती। यह नाबदान के कीड़े की ज़िन्दगी...कब तक तुम इस झूठ का तकिया करोगे ?...

'तुम झूठे हो, बदमाश हो, लुच्चे हो, रनजीत बक रहा है। और श्रीकान्त गला फाड़कर हंस रहा है। उस पर रनजीत के बकने-झकने का कोई असर नहीं है।

नाबदान के कीड़े तुम हो, पतित, चरित्रहीन...

और श्रीकान्त हंस रहा है।

तुम एक घर को या दो घर को या बीस घर को उजाड़ दो तब भी झूठ सच न हो जायेगा। तुमने एक दोस्त के साथ दगा की और उसके बसे बसाये घर को उजाड़ दिया। हां तुमने मेरे साथ दगा की। भगवान तुमको इसकी सज़ा देगा। तुम भी जानते हो

श्रीकान्त, बसाना मुशकिल होता है, उजाड़ना आसान। किसान अपने खून को पसीना करके खेत में बोता है तो फ़सल तैयार होती है और एक सांड़ आता है और लहलहाते हुए खेत को चर जाता है! यह शरीफ़ आदमी का काम नहीं है जो तुमने मेरे साथ किया। तुम्हारे यहाँ क्या इसी तरह दोस्ती का हक़ अदा होता है? यह मैं तुमसे भीख नहीं मांग रहा हूँ श्रीकान्त, इंसान के नाते जवाब तलब कर रहा हूँ। भीख मैंने कभी नहीं मांगी, कभी नहीं माँगूंगा। भीख माँगने के पहले मर जाऊंगा! इस बात का मैं तुम्हें यक़ीन दिलाता हूँ।

मेरी आँखों में मिर्च झोंककर मुझे कुछ दिखलाने की जरूरत नहीं है। उसे मैं बेला की आँखों में पढ़ सकता हूँ। मेरी भाग्यलिपि का लेखा मुझी को बतलाओगे जिसके हृदय पर भोथी छुरी से उसे खोदा गया है! मुझे वह दिन भी याद है जब हमारी मुहब्बत ज़िन्दा थी (तुम्हारे कहने से वह मिट न जायेगी) और आज के ये पथरीले दिन भी मेरे ही सीने को कुचलते हुए निकलते हैं जबकि हमारी मुहब्बत को सांप डस चुका है और उसकी लाश मेरे और बेला के बीच बराबर यकसाँ पड़ी रहती है, ठण्डी, निस्पंद। मैं उस लाश को अच्छी तरह पहचानता हूँ उसी तरह जैसे उस ज़िन्दा, फड़कती हुई मुहब्बत को पहचानता था। तुम मेरी यन्त्रणा को नहीं समझ सकोगे श्रीकान्त क्यों कि तुमने कभी प्रेम नहीं किया, क्यों कि अपने झूठे तर्कों के नक्कारखाने में तुमने शायद कभी मुहब्बत की तूती को बोलते नहीं सुना। वर्ना तुम मेरी तकलीफ़ को समझते। मैं तुम्हें समझा भी नहीं सकता, समझाना चाहूँगा भी नहीं। मेरे पास भी अपना स्वाभिमान है। मैं बस अपने उस प्रेम की

सौगन्ध खाकर तुमसे कहना चाहता हूँ कि तुम झूठ बोल रहे हो। झूठ की बुनियाद पर, सुविधाजनक झूठ की बुनियाद पर इमारत मैंने नहीं तुमने खड़ी की है और अगर तुम निरे पशु नहीं होगे तो एक न एक दिन इस बात को समझोगे।

आज जो दर्द मेरे सीने को भँभोड़ रहा है उसे मैं किसी से नहीं कह सकता क्योंकि कोई उसे नहीं समझेगा, क्यों कि हर आदमी खुद अपना सलीब उठाकर चल रहा है मगर तब भी मुझे वह दिन भूले नहीं हैं, वह सोने रूपे के दिन जब... मगर छोड़ो उस बात को, पुरानी स्मृतियों की बैसाखी लेकर मैं नहीं चलूँगा। अगर मेरा वर्तमान अपने पैरों पर नहीं खड़ा हो सकता तो ढह जाये, उसका ढह जाना ही अच्छा, मुझे उसका कोई ग़म नहीं। जो था वह भी सच है और जो है वह भी सच है और दोनों के बीच खाई है जिसे मैं देखता हूँ, जिसमें मैं रहता हूँ मगर जिसे मैं समझता नहीं। मैं अक़्ल की दुहाई नहीं देता, बस अपने दुखते हुए दिल की दुहाई देकर कहना चाहता हूँ कि मैं न्याय करूंगा, पूरा पूरा न्याय करूंगा, सबके साथ पूरा-पूरा न्याय करूंगा—अपने साथ जिसे तुम बेगैरत कहते हो श्रीकान्त, और तुम्हारे साथ, जिसे मैं नहीं जानता क्या कहूँ, और बेला के साथ जिसे मैंने प्यार किया है और जिसने मुझे प्यार किया है और कुमी के साथ जो हमारी थाती है। मैं सबके साथ पूरा पूरा न्याय करूंगा। अगर मेरा यह रंग-महल अब महज़ मलबे का एक ढेर है तो उसे मलबे का ढेर कहने की हिम्मत मुझमें है, सुना तुमने श्रीकान्त ?

श्रीकान्त...श्रीकान्त...तुम कहां हो ?

श्रीकान्त कहीं नहीं था। रनजीत के सीने में बेपनाह दर्द हो रहा था।

रनजीत अगले दिन सवेरे अपने कमरे से बाहर आया तो उसके चेहरे पर हवाइयां उड़ रही थीं जैसे पता नहीं कितने महीनों का मरीज़ हो। चेहरा पीला, आंखें पीली, बाल उलझे हुए, पैरों में कंपकंपी, एक अजीब ही हुलिया था जैसे कोई मुर्दा सीधे मरघट से उठकर चला आ रहा हो। खुद उसने बरामदे के आइने में अपना चेहरा देखा और एक बार ठिठककर पीछे हट गया : आइने के भीतर से यह कौन झांक रहा है ? ओह, यह तो खुद मेरा चेहरा है, रनजीत का...और उसने मुसकराने की कोशिश की मगर आज उस मेहरबान मुसकराहट ने भी साथ नहीं दिया। वह आयी मगर घर का हाल देखकर उलटे पांव लौट गयी। रात भर में ही यह बीस बरस उम्र कैसे बढ़ गयी ? कितनी लम्बी रात थी यह ? कहां छिपा बैठा था यह बुढ़ापा जिसने यकबयक इस आदमी को यों दबोच लिया ? कौन सा बाँध टूट गया जो उम्र का दरिया इस तरह गरजते हुए चढ़ आया ? रात भर यह कैसी हवाएं चलीं कि पत्ता पत्ता झुलस गया ? दर्द ? दर्द तो सबको होता है। मगर सब तो इस तरह बिखर नहीं जाते। नाउम्मीदी ? कौन है जिसने उसका तमाचा नहीं खाया। मगर तब भी सब ज़िन्दा रहते हैं और किसी नयी उम्मीद

का सहारा पकड़ लेते हैं। रनजीत क्यों किसी नयी उम्मीद का सहारा नहीं पकड़ लेता ? मगर शायद यह भी एक इन्तहा है जब कि जहन्नुम की हक़ीक़त बिजली के एक कौंधे में कभी एक बार उजागर हो जाती है। अकसर जहन्नुम में रहकर भी आदमी उसको देखता नहीं और फिर एक दिन देख लेता है जैसे पहले कभी नहीं देखा था। ऐसे दिन अच्छे नहीं होते।

रनजीत ने आज चाय भी नहीं पी, इसका खयाल बेला को क़रीब ग्यारह बजे आया जब बाग़ीचा थोड़ा संवर चुका। वह सबेरे से जो खुरपी और कैंची लेकर बाग़ीचे के काम में लगी तो उसे जैसे किसी चीज़ का होश न रहा। बस दिन भर का वक़्त है और इतना काम करना है। न पी होगी, कोई बात होगी। मैंने भी तो नहीं पी। श्रीकान्त की गाड़ी शायद सात बजे आती है। स्टेशन जाऊँगी। क्या ज़रूरत है। तो भी ठीक वक़्त मालूम कर लेना चाहिए। क्या पता अक्तूबर से वक़्त कुछ बदला हो। नया टाइम टेबुल देखना चाहिए। मगर नया टाइम टेबुल है कहां ? एक भी ढंग की चीज़ तो नहीं है इस कम्बख्त घर में। कहने को यह पढ़े-लिखे लोगों का घर है और यहाँ टाइम टेबुल भी नहीं रहता ! ज़रूरत भी क्या है, न कोई कहीं आता है न जाता है। जैसे मुर्दे दफ़न हों क़ब्र में। मगर अब हो क्या, गाड़ी का सही वक़्त मालूम कैसे हो ?...हिश्ट, मेरी भी कैसी मत

मारी गयी है, अखबार में भी तो दिया रहता है गाड़ी का वक्त।

अभी बागीचे का काम आधा भी नहीं हुआ था मगर गाड़ी का सही वक्त मालूम करना ज़रूरी था ताकि मालूम तो हो कितना वक्त है अपने पास।

बेला ने हाथ धोया और पुराने अखबारों के ढेर में से एक अखबार उठा लायी, ठीक सात सैंतालिस पर गाड़ी आती है। इसका मतलब है आठ बजे तक श्रीकान्त यहाँ पहुँच जायेगा। मुश्किल से पाँच छः घण्टे मिलते हैं और अभी न जाने कितना काम बाकी पड़ा है। गमले तो पुत गये, मगर अभी सारी क्यारियां एक बार ठीक करनी हैं। डाहूलिया की झाड़ी तो बिलकुल जङ्गल हो रही है, कोई हिसाब नहीं उसका। ठीक है कि झाड़ी आड़ के लिये लगाई जाती है मगर फिर भी उसका कुछ तो हिसाब होना चाहिये। मैंने कुछ फिक्र नहीं की और झाड़ी जंगल हो गई। श्रीकान्त इसको ऐसी शकल में देखेगा तो बहुत हंसेगा! ठीक करना ही पड़ेगा और इसी के लिये कम से कम दो घण्टे चाहिये। अभी काफी काम है। श्रीकान्त का कमरा भी मैं फिर से सजाऊंगी, कुछ ठीक नहीं जमा। श्रीकान्त कहता है कि मेरे अन्दर वह कलात्मक रुचि है जिसके स्पर्श से मुर्दा चीज़ों में भी जान पड़ जाती है। अभी उसका कमरा कुछ नहीं जमा। मुझे संतोष नहीं है। वैसे मैंने एक नई बात की है आज। उसी की बनाई हुई अपनी तस्वीर मैंने उसके कमरे में टांग दी है। उसे अच्छा लगेगा। कैसी अच्छी तसवीर है! श्रीकान्त के हाथ में सचमुच जादू है, जिस चीज़ को छू देता है वह लौ देने लगती है। मैं क्या सचमुच इतनी सुन्दर हूँ? हुँः। रनजीत ने नहीं देखी है यह

तसवीर। जो आदमी आर्ट की कद्र न कर सके उसको दिखलाने से फायदा! आर्ट की चीज को देखना भी उसी निगाह से चाहिए। श्रीकान्त ने मेरी तसवीर उतार दी तो क्या मैं बेआबरू हो गई? मगर मैं जानती हूँ कि रनजीत को तसवीर देखकर कोई खुशी न होती। इसी लिये मैंने दिखलाई भी नहीं...अच्छा चलूँ, कुमी को खाना भेजना है। कुमी को खाना भेज दूँ और खुद भी दो निवाले खा लूँ और तब फिर बागीचे में लगूँ...

वक्त के जैसे पर लग गये थे। देखते देखते शाम हो गई। जाड़े की शाम। बेला ने आखिरी बार बागीचे को निहारा और गुनगुनाने लगी। ठीक हो गया, काफी ठीक हो गया। अब चलूँ श्रीकान्त का कमरा ठीक कर दूँ और फिर नहा डालूं। दिन भर की मेहनत के बाद गरम पानी से नहाने में बड़ा मज़ा आयेगा, सारी थकावट दूर हो जायेगी...वैसे कुछ थकान तो नहीं है। और बेला ने अँगड़ाई ली।

नहाते-धोते सात बज गये। कपड़े बदलने में आज बेला की जैसी मुसीबत हुई, वैसी क्या कभी हुई होगी! वह कभी एक साड़ी उठाती थी कभी दूसरी, कभी एक साड़ी और ब्लाउज़ का मेल बैठाकर देखती थी कभी दूसरी साड़ी और ब्लाउज़ का। उसकी समझ में ही नहीं आ रहा था कि क्या पहने। इसलिये नहीं कि उसे कपड़े पहनना नहीं आता था और सुरुचि की कमी थी बल्कि इसलिये कि सुरुचि तोला-माशा ज्यादा

ही थी और समस्या यह थी कि क्या पहने कि उसे देखते ही श्रीकान्त की तबीयत बाग-बाग हो जाय। श्रीकान्त की नज़रों में खुब जाना मामूली बात थोड़े ही है और खासकर जब उसने तुम्हारी सुरुचि सम्पन्नता की तारीफ़ कर दी हो तब तो ज़िम्मेदारी खामखाह और बढ़ जाती है। आलमारी से निकल कर तमाम कपड़े पलङ्ग पर फैल गये थे और बेला अनिश्चय की मुद्रा में खड़ी थी और घड़ी की सुई साढ़े सात पर पहुँच रही थी। अब देर ही कितनी है। श्रीकान्त को बस आया समझो, और अभी मैं तैयार भी नहीं हुई। बेला को बड़ी उद्विग्नता हुई और उसी उद्विग्नता में उसे एकाएक बात सूझ गई। आश्चर्य है कि इतनी सीधी सी बात अब तक क्यों नहीं सूझी थी। ऊपर से नीचे तक श्रीकान्त की ही दी हुई तमाम चीजें पहनी जायें। सम्बलपुर वाली इस साड़ी में रङ्गों का मेल कैसा अछूता है। कहने को तो यह उन लोगों के हाथ का काम है जो आधुनिक सभ्यता और संस्कृति से एकदम कोरे हैं, आदिवासी ही ठहरे, न पढ़े न लिखे, हमारे देहातियों से भी ज़्यादा देहाती, बज्र देहाती, मगर उनके पास रंगों के चुनाव का जो सहज ज्ञान उसके आगे नई से नई आधुनिकता भी पानी भरती है। कैसी है एक अजीब ताज़गी है इसमें। श्रीकान्त को भी यह साड़ी बहुत पसन्द है। अपने किसी काम से वह पिछले साल सम्बलपुर गया था और वहीं से मेरे लिए साड़ी ले आया था। ये लोग अकसर रंग बहुत गहरे इस्तेमाल करते हैं मगर दूसरे रंगों के साथ उनका मेल कुछ ऐसा होता है कि वह पूरी चीज बहुत नाजुक, बहुत सोफ़ियाना, बहुत ऊँचे दर्जे की हो जाती है। सच बात है, ऐसी लुभावनी साड़ी मेरे पास दूसरी नहीं है। तो ठीक

है, साड़ी यह हो गई और ब्लाउज़ भी इसी तरह का कोई पहन लूंगी। हैं दो तीन, श्रीकान्त के ही उपहार। वह भी श्रीकान्त ऐसी ही किसी जगह से लाया था। स्याही-मायल गहरे लाल रंग के बीच बीच उजले सफेद टुकड़े जो आ जाते हैं, कितने अच्छे मालूम होते हैं और फिर यह गहरा काला बार्डर ...कितनी खुशनुमा मालूम होती है यह साड़ी। मेरे रंग पर खिलती भी अच्छी है। इसके संग ब्लाउज़ भी यही सबसे ठीक रहेगा। गहरा काला रंग अच्छा जँचेगा इस साड़ी के साथ।

कपड़े पहन कर बेला ने अपने आपको क़दे आदम आईने में निहारा और मुस्करायी और गुनगुनाने लगी। मगर मेक-अप अभी पूरा कहां हुआ, दो एक गहने भी तो पहनूँगी। और कहीं न सही मगर गले में और हाथ में तो पहनना ही चाहिये। गहने बेला के पास काफ़ी थे मगर उनको पहनने की नौबत न आती थी। आज की बात और थी। मगर एक दिक्क़त थी उन गहनों के साथ। वह या तो उसकी माँ के दिये हुए थे या रनजीत के, और सोने के थे। और इस वक़्त सोना पहनने को उसका जी नहीं चाह रहा था। उसका ख़याल था कि आदिवासी स्त्रियाँ सोना नही पहनतीं और वह सोलहों आने आदिवासी स्त्री बनना चाहती थी। उसने एक भी आदिवासी स्त्री नहीं देखी थी, अपने आस पास के गाँवों तक की तो शकल नहीं देखी थी, मगर उसे लगता था कि वह उन आदिवासियों को अच्छी तरह जानती है, उनके बीच रह चुकी है। बहुत सी चीज़ों को वह इसी तरह श्रीकान्त की आँखों से देख लिया करती थी। वह आज एकदम आदिवासी स्त्री का मेक

अप करेगी, और उसने आलमारी का दराज़ खोलकर उसमें से उसी क़िस्म की कुछ चीजें निकालीं जैसी उसने जिप्सी औरतों को पहने देखा था और जो सब श्रीकान्त की सौग़ातें थीं, दाम में सस्ती मगर दिलकश। चाहे कौड़ी मोल की ही क्यों न हों उनका अपना एक अलग सौन्दर्य था और फैशनेबुल सोसाइटी की औरतें उन्हें बहुत पसन्द करती थीं और ख़ास ख़ास मौकों पर पहनती थीं और देखने वाले उनकी इस नयी, सबसे मुख़्तलिफ़ सजधज को देखते ही रह जाते थे और उनके सीनों पर बर्छियाँ चल जाती थीं। बेला ने भी ऐसी औरतों को देखा था और उसके नज़दीक वही आदिवासी नमूना था। लिहाज़ा आज वह भी वैसा ही मेक अप करेगी और उसने हाथ में उठा उठाकर उनका ताल मेल बिठाना शुरू किया, छोटे छोटे शंखों और सीपियों की रंग-बिरंगी मालाएं, लाल घुमचियों की मालाएं, काँच के लाल-नीले टुकड़ों की मनमोहनी मालाएं और हाथ के कंगन, और कुछ अजब आकार प्रकार की मोटी-मोटी रंग बिरंगी चूड़ियाँ जिनका अनोखा, देहाती ढब ही सबसे नया फैशन था।

चेहरे पर पाउडर और ओंठों पर हलके लाल रंग की लिपस्टिक लगाकर और एक छोटे से स्प्रे से अपने कपड़ों पर ऊपर नीचे यहाँ वहाँ किसी बहुत अच्छे विलायती सेन्ट की फुहारें छोड़कर जब उसने अपने पूरे मेकअप के साथ आइने में अपने आप को निहारा तो एक बार लाज से उसकी आँखें झुक गयीं। खुद उसकी आँखों में नशा उतर आया। यह कौन अप्सरा है जो आइने के भीतर से मुझे देख रही है! लंबी, छरहरी, गोरी, बड़ी बड़ी आँखें, नुकीली सी नाक, पतले पतले,

गीले से गुलाबी ओंठ, नन्हीं सी ठुड्डी यह तो कोई देव कन्या है। उसकी आँखों में नशा है, उसके अंग अंग से मस्ती फूट रही है। क्या यह वही बेला है जो थकान की मूरत है, उदासीनता की प्रतिमा है? नहीं, यह कोई और बेला है।

हाँ यह कोई और बेला है, मिलन की बेला है।

आठ बजने में दस मिनट। गाड़ी को आये भी तीन मिनट हो गये होंगे। गाड़ियाँ अब काफ़ी ठीक समय से चलने लगी हैं। कम ही लेट होती हैं। सात सैंतालिस पर गाड़ी आ गई होगी, श्रीकान्त कुली के सर पर सामान उठवा कर बाहर आ गया होगा; तांगा ठीक कर रहा होगा। और जहाँ तांगे पर बैठा कि दस मिनट में घर। और क्या दस मिनट का ही तो रास्ता है और ये घोड़े भी तो हवा से बात करते हैं। दस मिनट से ज़्यादा किसी तरह नहीं लग सकते। ठीक आठ पर, यानी आठ मिनट के अन्दर श्रीकान्त को यहाँ पहुँच जाना चाहिए। उसने फिर दीवार की घड़ी पर नज़र डाली, हां, अभी आठ मिनट है आठ को।

बेला वहीं सामने के बरामदे में टहलने लगी। तभी उसे एक खिलवाड़ सूझा, फाटक बन्द कर दूँ, ताकि श्रीकान्त को खटखटाना पड़े और तब मैं जाकर फाटक खोल दूँ। कुछ आंख-मिचौनी के खेल जैसा मज़ा था इसमें। और बेला ने जाकर फाटक बन्द कर दिया और लौटकर फिर घड़ी देखी। अब तो हो गया होगा वक़्त। मगर कहां अब भी आठ बजने को चार मिनट बाकी थे, चार मिनट...चार युग...वक्त थम गया था, जैसे किसी ने घड़ी की सुई को पकड़ लिया हो। एक मिनट दस मिनट का हो गया है। उसने मेज़ पर पड़ा हुआ एक पुराना

वीकली उठा लिया और उसकी तसवीरें देखने लगी मगर किसी तरह जी न लगा। एकाध तसवीर देखती, दो चार लाइनें यहां वहां पढ़ती और फिर बरबस घड़ी पर नज़र चली जाती। इस वक्त वह घड़ी ही उसका दिल थी, टिक् टिक्...टिक्-टिक्...

मगर चलो खैरियत हुई, किसी किसी तरह यह चार युग बीते और दीवार घड़ी ने आठ का घन्टा बजाया और बेला चौंककर उठ खड़ी हुई और बरामदे में आ गयी। श्रीकान्त अब आता ही होगा। उसकी आंखें फाटक पर जमी हुई थीं। किसी क़िस्म का कोई खटका होता और उसके पैर आपसे आप यन्त्र-चालित से उसी ओर बढ़ जाते।

क्या बात है, मिनट पर मिनट गुज़रते जा रहे हैं और श्रीकान्त का कहीं पता नहीं? गाड़ी लेट हो गयी क्या? लेट तो नहीं होतीं गाड़ियाँ आज कल। अक्सर तो वक्त से ही आती हैं। कोई बात हो गयी होगी। क्या ठीक इन चीज़ों का। दस बीस मिनट की देर तो मामूली बात है। आता ही होगा। कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि ऐन वक्त पर कोई ज़रूरी काम आ गया हो और श्रीकान्त को अपना प्रोग्राम बदलना पड़ा हो? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। श्रीकान्त इन बातों में बड़ा चौकस है। उसका प्रोग्राम अगर बदला होता तो अब तक कभी उसका दूसरा तार आ गया होता। कभी हो नहीं सकता कि श्रीकान्त चूक जाय। मैं क्या जानती नहीं उसको? वह बिल्कुल दूसरी तरह का आदमी है, आदतों में बिल्कुल अंग्रेज समझो। अच्छी बात है। यह क्या कि इधर तो आपने अपना प्रोग्राम बदल दिया और उधर दूसरा आदमी आपकी राह देख रहा है...नहीं, नहीं, कुछ और ही बात है।

इसी झूले में झूलते हुए आध घन्टे निकल गये और श्रीकान्त नहीं आया। तब तो बेला के मन को तरह तरह की दुश्चिन्ताएँ घेरने लगीं, कहीं बीमार तो नहीं पड़ गया ? कहीं गाड़ी तो नहीं लड़-लड़ा गयी ? कहीं...

और तभी फाटक के कुन्डे खटखटाने की आवाज़ हुई। आ गया...

आ गया...श्रीकान्त आ गया...

और बेला गिरती पड़ती तेजी से फाटक की तरफ़ भागी।

—'आ गये ? इतनी देर कहां लग गयी ? गाड़ी तो कब की...एक सांस में कहते हुए बेला ने फाटक खोल दिया...

और उसका हाथ बढ़ा का बढ़ा रह गया। दरवाजे पर श्रीकान्त नहीं एक नितान्त अपरिचित स्त्री खड़ी थी। सुन्दरी पर कुछ बीमार सी।

बेला को तो जैसे काठ मार गया था। साधारण शिष्टता भी वह भूल गयी और हतसंज्ञ, जड़वत् खड़ी रही।

'नमस्ते बहन जी, आप मुझे नहीं पहचानतीं। मेरा नाम मदालसा है। मैं बम्बई से आ रही हूँ। आपको जिस व्यक्ति की प्रतीक्षा है वह नहीं आयेगा'—उस स्त्री ने कहा।

बात बेला के कान में पड़ी ज़रूर मगर कुछ समझ में नहीं आई। कौन नहीं आयेगा ? क्यों नहीं आयेगा ? यह स्त्री कौन है ? क्या बक रही है ? इसे क्या पता कि मैं किसकी प्रतीक्षा कर रही हूँ या नहीं कर रही हूँ ? आखिर है कौन यह स्त्री ? और इसे मेरे घर का पता कैसे चला ? यह क्या मामला है, कैसा रहस्य है, कुछ भी समझ में नहीं आता।

'आप ग़लत घर में तो...'बेला ने डरते डरते कहा।

प्रगल्भ मदालसा हंस पड़ी—आप मुझे नहीं पहचानतीं पर मैं आपको पहचानती हूँ। घर ढूंढ़ने में कुछ देर जरूर लगी मगर गलती की कोई गुंजाइश नहीं है। यह डाक्टर रनजीत माथुर का ही घर है न? और आप का नाम बेला है?

यह कैसी अजीब जादूगरनी है। इसे सब बात पता है और ने आज तक इसकी शकल भी नहीं देखी।

'मगर जहां तक याद पड़ता है मैं कभी आपसे मिली नहीं?' बेला ने कहा।

उस स्त्री ने वैसे ही हंसते हुए कहा—मिलना क्या ज़रूरी है? मैं आपको पहचानती हूँ। श्रीकान्त ने आपकी एक तसवीर बनाई थी। बतलाया था।

'तो आप श्रीकान्त बाबू को जानती हैं?' बेला ने पूछा।

'खूब अच्छी तरह,' मदालसा ने जवाब दिया।

'तब तो आपको यह भी मालूम होगा कि वह आये क्यों नहीं?' बेला ने प्रश्न किया।

'वह अलग एक कहानी है। फुर्सत से सुनियेगा,' मदालसा ने उत्तर दिया।

खूब प्रेमपूर्वक मुंह-हाथ धो चुकने के बाद, तरोताज़ा होकर मदालसा ने खाना खाया और फिर फुर्सत से जो कहानी सुनाई वह संक्षेप में मगर उसी के शब्दों में कुछ इस प्रकार थी:

मेरे पिता पूनमचन्द गाँधी बम्बई के एक अच्छे प्रतिष्ठित, धनी आदमी हैं। हमारी कई कपड़े की मिलें हैं। मरीन ड्राइव पर हमारा मकान है। मैं अपने पिता की अकेली सन्तान हूँ। मेरी माँ बहुत छुटपन में ही मर गई थीं। मेरे पिता ने फिर दूसरा

विवाह नहीं किया। आप सहज ही अनुमान लगा सकती हैं कि मैं कैसे लाड़-प्यार में पली हूँगी, उसके बारे में मुझे कुछ कहने की जरूरत नहीं है...शुरू से ही मेरी रुचि संगीत और चित्रकला की ओर रही है। मैं नहीं जानती, हो सकता है यह मेरी माँ का प्रभाव हो या उस नीले समुद्र का जिसे मैं निरन्तर अपनी आँखों के सामने पाती थी। मैं घण्टों अपने बारजे पर से समुद्र को देखती रहती और जैसे मेरा जी ही न भरता। उन लहरों में न जाने कैसा एक आकर्षण था जो कभी मेरे लिए बासी न पड़ता। हर लहर मेरे लिए एक गीत थी। समुद्र पुराना था आदिम था; उसकी हर लहर नई थी अछूती थी। मुझे अब खुद अपने पागलपन पर अचम्भा होता है मगर उन दिनों सचमुच मुझ पर समुद्र का एक विचित्र सा सम्मोहन था। मैं अब भी नहीं जानती कि उसके मूल में क्या था। कई बातें हो सकती हैं। सम्भव है माँ के स्नेह से वञ्चित मेरा उदास बाल-मन उन समुद्र की लहरों में तृप्ति खोजता हो और मन के भीतर कहीं यह आशा छिपाये बैठा हो कि इन्हीं लहरों के बीच से एक दिन मेरी माँ, जलपरी की भाँति, निकल आयेगी और मुझे गोद में लेकर चूम लेगी, वैसे ही जैसे वे लहरें हर बार आकर तट को चूम जाती हैं। यह भी संभव है कि अपने चारों ओर के वैभव-विलास से उकताकर मेरा मन नीले, मुक्त आकाश के नीचे समुद्र की उन निर्बन्ध, अहैतुक, उच्छल लहरों की ओर दौड़ता हो। हो सकता है, यह सब कुछ भी न हो, बस एक वैचित्र्य की, सबसे अलग दिखने की भूख हो और पिता जी ने मेरे सामने अपने किसी मित्र से मेरी इस प्रवृत्ति की प्रशंसा कर दी हो, कि मेरी बेटी तो आर्टिस्ट है हर वक्त समुद्र

को निहारा करती है, और मैंने उनकी बात सुन ली हो और तब से और भी एकाग्र होकर मैं अपने मन को इस ओर लगाने लगी होऊँ और धीरे धीरे एक क्षणिक प्रेरणा मन का एक संस्कार बन गयी हो। मैं कुछ भी ठीक से नहीं कह सकती, और अपने प्रति कोई झूठा मोह भी नहीं रखना चाहती, पर इतनी बात तो सच है कि मुझे उन लहरों को देखते रहने में अपूर्व सुख मिलता था। मैं सूरज को समुद्र में डूबते देखती और यहाँ से वहाँ तक उस अनन्त नीले विस्तार में उसी एक ही रंग में से पैदा होने वाले अनेक रंगों का खेल, गहरा नीला, हल्का नीला, सफेद, हरा, भूरा, बैंगनी—कौन सा रंग नहीं था उन लहरों में। सूरज के चढ़ने और उतरने के साथ साथ समुद्र भी उस धूप-छाँह के खेल में अपना रंग बदलता रहता और झुटपुटा होने पर वह तमाम साये समुद्र पर उतर आते और वह उदास हो जाता उस विरही की भाँति जो सृष्टि के प्रथम दिन से आज तक अपनी आदिप्रिया के वियोग की पीड़ा को अन्तस् में दबाये जी रहा है। दिन में कितनी बार उसका चेहरा न बदलता, कभी वह खिलखिलाकर हँसता दिखायी देता कभी उदास और कभी क्रुद्ध और कभी गम्भीर, विचार मग्न। अँधेरी रात में समुद्र भी ऐसा नज़र आता कि जैसे अँधेरा बह रहा हो और फिर चाँदनी रात में वही बहता हुआ अँधेरा पिघली हुई चाँदी बन जाता। और पूनम की रात को सारे बाँध टूट जाते और समुद्र पागल हो जाता। मैं अपने बारजे पर से घंटों उसे एकटक देखती रहती और दूसरी सभी चीजें मेरे लिए मिट जातीं, बस मैं होती और वह आदिगन्त फैला हुआ समुद्र होता। कभी तो मुझे बहुत डर मालूम होता

और कभी एक जबरदस्त चाह कि अभी इसी वक्त उन लहरों से जा मिलूँ, कि जैसे वे अपनी बाँहें बढ़ाये मेरी ही तरफ़ आ रही हों और अपने भारी कंठ से मुझी को पुकार रही हों। दूर क्षितिज पर किश्तियों की पालें बगुलों जैसी नजर आतीं जो बहुत ही सुहानी जान पड़तीं। मगर मेरे मन की सबसे तीव्र वासना थी कि एक छोटी सी डोंगी पर बैठकर उन लहरों पर खेलूँ जैसी डोंगियों पर रोज सबेरे बीसियों मछुए मछली पकड़ने निकलते थे। वह डोंगी क्या थी, लकड़ी का एक तख्ता ही समझिए उसे। मगर मुझे तो वही भाता था और ऐसा भाता था कि आप को क्या बताऊँ। आदमी को जो कुछ नहीं मिलता शायद उसी की उसको सबसे ज़्यादा चाह होती है। मैं कई बार अपने पिता जी के संग और दूसरी सहेलियों के संग स्टीम लॉन्च में बैठकर घूमी थी। मगर उसमें कभी मुझे वह मजा न आता और मछुओं वाली डोंगी पर बैठकर घूमने की भूख मेरे मन में बनी रही। मगर यह मैं कहाँ से कहाँ पहुँच गयी।

मैं आपको बतला रही थी कि मुझ में शायद कला की कुछ जन्म-जात रुचि थी। उसके संस्कार में समुद्र का भी कुछ न कुछ हाथ था। मैं अपने पिता की कैसी लाडली थी, यह आपको बतला ही चुकी हूँ। जहाँ कोई प्रतिभा न भी होती वह उसे मेरे अंदर आरोपित करने को तत्पर रहते और यहाँ तो फिर थोड़ी सी थी भी। पिता जी ने मेरे लिए एक मास्टर लगा दिया जो घर पर आकर मुझे चित्रकला सिखलाने लगा। और पिता जी की कृपा से, मेरे पास संसार के महान् चित्रकारों के ऐलबमों का अंबार लग गया। सेठ पूनम चन्द गाँधी की बेटी मदालसा को अगर चित्रकला का शौक हो तो उसे फिर

किस चीज़ की कमी। बारजे से लगा हुआ, समुद्र की ही ओर खुलने वाला एक कमरा था, वही मेरा पेन्टिंग का कमरा था। मैं एक ऐसी सुन्दर कला सीख रही थी, यह मेरे पिता जी के लिए बहुत बड़े सन्तोष का विषय था और उन्होंने अपनी ओर से कुछ भी उठा नहीं रखा था। चित्रों के ऐलबम, कला की पुस्तकें, रंग, कैनवस, सराहना सभी कुछ मुझे अतिरिक्त मात्रा में मिलता...और इस तरह मैं बड़ी होने लगी और वह बीज अंकुर बन चला। प्रवृत्ति जीवन की दिशा बनने लगी। मुझे यों भी फ़ैशनबुल सोसायटी कभी बहुत पसंद न थी, उसमें एक खोखलापन था जो मुझे कभी अच्छा नहीं लगा। इसीलिए मैं लोगों से दूर ही रहती। समुद्र ही मेरा साथी था। और अब तो मुझे एक जीवन लक्ष्य मिल गया। और मैं एकान्त मनोयोग से सीखने लगी। अच्छे से अच्छे चित्रकारों तक मेरी पहुँच थी। वे मेरे घर आते, मैं उनके घर जाती। जहाँगीर आर्ट गैलरी में रोज़ ही एक न एक प्रदर्शिनी होती रहती है। पिता जी हमेशा मुझे उनमें ले जाते। और ऐसी ही एक प्रदर्शिनी में...

वहाँ कई तसवीरें श्रीकान्त की थीं, जो सभी मुझे अच्छी लगीं मगर उनमें एक तसवीर तो ऐसी थी कि मैं कुछ कह नहीं सकती। उसका शीर्षक था मनु। बहुत बड़ा कैनवस था, चार फुट लम्बा दस फुट चौड़ा। चट्टानी आकृति का एक आदमी समुद्र किनारे विचार-मग्न खड़ा हुआ है। उसके सामने समुद्र का गरजता हुआ अथाह नीला विस्तार है, जिसके एक कोने में एक ज़रा सी डोंगी पड़ी है। अनाड़ी आँखों के लिए उस चित्र में बस इतना ही था। मगर कला के पारखी के लिए उसमें अद्भुत व्यंजना थी, विलक्षण अर्थ-गांभीर्य। और क्या

ही रंग इस्तेमाल किये गये थे! मैं तो मुग्ध हो गई उसको देखकर। उसका गठन विन्यास, रेखाओं की शक्ति, रंगों की घुलावट, धूप और छांह का अंकन, एक एक चीज़ जैसे पुकार पुकार कर कह रही थी कि यह एक बड़े कलाकार की तूलिका है जिसकी बुद्धि परिष्कृत है, संवेदना सबल, कलाई मज़बूत, और उंगलियां सधी हुई। उस एक चित्र में कलाकार ने हमारे युग को पूरा पूरा उतार कर रख दिया था। समुद्र जैसे मानवता की अथाह संभावनाओं का समुद्र था। मगर इस शर्त के साथ कि मनु उन विकराल, प्रागैतिहासिक जन्तुओं पर विजय पाये जो कि उसे खा जाना चाहती हैं और उसकी उस नन्हीं सी डोंगी को अतल गर्त में डुबो देने पर तुली हुई हैं। और मनु इस बात को समझता है और अपने विचारों में डूबा हुआ है और उसका सिर चाँद तारों को छू रहा है और पैर समुद्र तट की कीचड़ में खूंटे की तरह गड़े हुए हैं और हवा में भूत मंडरा रहे हैं। भूत अर्थात् युग के सारे भय, आतंक, व्यर्थता, अनिश्चय, भ्रातृ-हत्या। किस खूबी से आर्टिस्ट ने उस चीज़ को अदा किया था, कितनी मुश्किल चीज़ को कितनी आसानी से। सचमुच क्या अजब जादू है उस तसवीर में। मैं जब भी सोचती हूँ अवाक् रह जाती हूँ। न जाने उन लहरों में कैसी एक बात थी कि कभी उनको देखो तो ऐसा लगता कि वे खुलकर मुस्करा रही हैं और उनके हाथ मनु के लिए अभय की मुद्रा में, आशीष की मुद्रा में उठे हुए हैं और फिर दूसरे ही क्षण वह मुस्कराहट गुस्से में बदल जाती और वह लहरें फुंकारते हुए, फन उठाये हुए नाग जैसी हो जातीं। देखते देखते रूपान्तर हो जाता।

'मनु' निश्चय ही महान् कलाकृति है। वैसी चीज़ न तो दूसरे किसी कलाकार की वहाँ पर थी और न स्वयं श्रीकान्त की। जितने दिनों तक वह प्रदर्शिनी रही मैं रोज़ जाती थी और केवल उस चित्र को देखने। मैं जितनी बार उसे देखती उतनी ही बार मुझे उसमें एक न एक नई बात मिलती। उसने जीते-जागते समुद्र को उठाकर कैनवस पर बहा दिया था, जो कि स्वयं मेरा स्वप्न था, और इससे भी अधिक उसे कविता की वाणी दे दी थी और मनु और उस समुद्र के सम्बन्ध की राशि से हमारे इस संत्रस्त, पराजित, असमर्थ, और असीम संभावना-बहुल युग को हमारी आँखों के आगे सजीव कर दिया था।

बड़ा महान् चित्र था और बड़ा दुष्ट, मेरे लिए...पर वह आगे की बात है। मैं काल के अनुक्रम से ही अपनी कहानी कहूँगी।

हाँ तो उसी चित्र को लेकर श्रीकान्त से मेरा परिचय हुआ। मैंने उच्छ्वसित होकर उसकी प्रशंसा की और श्रीकान्त ने बड़ी शालीनता से उसे ग्रहण किया जैसा कि एक बड़े कलाकार के लिए उचित था। पिता जी ने अगले रोज़ उनको खाने पर बुलाया। और इस तरह श्रीकान्त के संग मेरा परिचय बढ़ने लगा। श्रीकान्त के लिए मेरे मन में जो आदर, जो संभ्रम था उसे व्यक्त करना मेरे लिये कठिन है। मैं अपने आप को बहुत गौरवान्वित अनुभव करती थी कि एक इतने बड़े कलाकार से मेरा इतना परिचय है। यह लगभग दो बरस पहले की बात है। धीरे धीरे श्रीकान्त का भी संकोच टूट गया और वह अक्सर मेरे यहाँ आने लगा। पिता जी को भी हमारी बढ़ती हुई आत्मीयता अच्छी लगी क्योंकि उसमें मेरे विकास की संभावनाएं छिपी हुई

थीं। बहुत कुछ सीख सकेगी...और इसमें संदेह नहीं कि श्रीकान्त को जब पता लगा कि मैं भी पेंटिंग सीखती हूँ तो उसने हठ करके, मेरी बनाई हुई टेढ़ी-सीधी तसवीरें निकलवायीं और मैंने उन्हें बेहद झिझकते हुए, कांपते हुए निकाला और श्रीकान्त ने उन तस्वीरों को देखा और...और मुक्त कंठ से उनकी प्रशंसा की और कहा कि मुझमें एक अच्छे कलाकार की प्रतिभा है। बस ठीक तरह से ले चलने की ज़रूरत है और दो तीन बरस में ही देखने वाले देख लेंगे कि एक नये कलाकार का जन्म हुआ है। पिता जी भी बैठे हुए थे। खुशी से उनकी आँखें छलछला आयीं। और मुझे भी कुछ कम खुशी नहीं हुई...

और फिर शिन्दे जी को छुट्टी दे दी गयी और श्रीकान्त ने उनकी जगह ले ली। अब तो वह रोज ही आता और मैं उसके सामने बैठकर चित्र बनाती और वह मुझे बतलाता कि मैंने कहाँ पर गलती की है और कैसे उस गलती को दूर करना चाहिए, रंगों का मेल कैसे करना चाहिए, कोई खास 'एफेक्ट' कैसे पैदा करना चाहिए। बहुत सी व्यावहारिक बातें मुझे श्रीकान्त से मालूम होतीं जो कि अब तक किसी से भी नहीं मालूम हो सकी थीं और अपने शिंदे जी से तो और भी नहीं क्यों कि वह स्वयं चित्रकार नहें, बस चित्रकला के शिक्षक थे, यानी सिद्धान्त की बातें उन्हें सब मालूम थीं मगर प्रयोग की उतनी नहीं क्योंकि स्वयं उनको कभी उस चीज का उतना काम नहीं पड़ा था। शिंदे जी ने भी पहले तसवीरें बनायी थीं मगर वह पुरानी बात हो गयी थी और श्रीकान्त ने जो कुछ बातें मुझे बतलायीं वह एक अच्छा चित्रकार ही बता सकता था जिसे खुद ही हर दम उन चीजों से दो चार होना पड़ता

है। मेरा मन श्रीकान्त के लिए कृतज्ञता से भर उठा। दूसरे कलाकार अपनी कला को मूजी बनिये की तरह मुट्ठी में दाबकर रखते हैं और एक यह श्रीकान्त है जो कुछ भी नहीं छिपाता, सब कुछ बतला देता है! क्यों न होती कृतज्ञता मेरे मन में।

श्रीकान्त इसी तरह मेरे यहाँ आता रहा और हमारी आत्मीयता भी स्वभावतः बढ़ती रही। धीरे-धीरे उसने अपने जीवन की सारी करुण कथा मुझसे कह डाली और मैंने भी एक बड़े चित्रकार के गोपन जीवन रहस्यों को जानकर अपने आपको गौरवान्वित अनुभव किया। श्रीकान्त जैसा कलाकार मुझको इसका अधिकारी समझता है, यह क्या छोटी बात है?

श्रीकान्त ने मुझको बतलाया कि कैसे उसने नन्दिनी नाम की किसी लड़की से प्रेम किया, नन्दिनी ने भी उससे प्रेम किया मगर सामाजिक व्यवधान के कारण दोनों का विवाह नहीं हो सका और नन्दिनी ने जहर खाकर आत्मघात कर लिया और तब से वह उसी की स्मृति को लेकर जी रहा है, अकेला है और कालबा देवी में एक छोटे से कमरे में रहता है। वहाँ पेंटिंग की जरा भी सुविधा नहीं है...

इशारा बहुत साफ था और श्रीकान्त हमारे लिए देवता-तुल्य था और हमारे पास कमरे ही कमरे थे। एक अच्छा सा कमरा, बारजे के दूसरी ओर, श्रीकान्त को भी मिल गया। वही उसका स्टूडियो था। उसकी खुशी देखने लायक थी। उसके कमरे से भी समुद्र का वही दृश्य मिलता था जो मेरे कमरे से। हम दोनों के बीच बस वह बारजा था। मुझे यह सोचकर ही रोमांच सा हो आता कि वहाँ, बारजे के उस पार, एक बड़ा कलाकार अपनी अमर कृतियों की सृष्टि कर रहा

है। मैं जब अपने चित्र बनाती तब भी जैसे श्रीकान्त की इस निकट उपस्थिति से मुझे प्रेरणा मिलती रहती। मैं नहीं जानती पिता जी के मन में ऐसा कोई भाव था या नहीं कि आगे पीछे ...मगर जिस तरह श्रीकान्त कभी कभी मुझे देखता था उससे मेरे मन में अवश्य उस भाव का बीज पड़ गया था। नन्दिनी के बिछुड़ जाने से जो रीतापन श्रीकान्त की जिन्दगी में आ गया है, मैं शायद उसे भर सकूँ। जीवन की कैसी सुंदर परिभाषा होगी यह? कितना सुखी होगा हमारा जीवन? मेरा स्वप्न पूरा होगा।

श्रीकान्त अपने उसी कमरे में घंटों काम किया करता और रात को सोने के लिए अपने घर चला जाता। उसके आने का कोई ठीक समय नहीं था, किस कलाकार का रहा है? और मैं आतुरता से उसकी राह देखती रहती। उसके आते ही घर जैसे भर उठता और मेरी रुकी हुई कूँची चलने लगती। मैं कभी काम करते समय श्रीकान्त के कमरे में न जाती, मुझे डर मालूम होता। मगर श्रीकान्त चला आता और काम करते समय मेरी मदद करता, क्योंकि उसका कहना था असल सिखलाना यही है और इसमें शक नहीं कि श्रीकान्त के आने के बाद से मेरी प्रगति काफ़ी तेज़ हो गयी थी। मुझे खुद भी लगता था और दूसरे जो मेरे चित्र देखते थे वह भी कहते थे...और मेरी सफलता का शिखर वह था जब कोई छः महीने बाद सात आठ नये कलाकारों की एक प्रदर्शिनी में मेरे भी दस छोटे बड़े चित्र जहांगीर आर्ट गैलरी में लगाये गये।

अब तक हम दोनों एक दूसरे के काफ़ी पास आ चुके थे और यह संबंध केवल गुरु-शिष्य का संबंध नहीं था। यह किसी

अर्थ में दो स्वप्नों के मिल जाने का संबंध था। और संयोगवश श्रीकान्त को भी समुद्र से गहरा प्रेम था। उसके बिना वह समुद्र को उस तरह आंक भी न सकता था। एक दिन श्रीकान्त ने मुझसे कहा भी था, मै अगर चित्रकार न बना होता तो नाविक बना होता। और मैं आज भी नहीं कह सकता कि अपने जीवन की दिशा चुनने में मैंने भूल नहीं की। समुद्र के लिए मेरे मन में उद्दाम वासना है। समुद्र की लहरों को देखकर मेरी बांहें फड़कने लगती हैं। कितना आनंद आये अपनी एक छोटी सी नौका लेकर समुद्र की इन ऊंची ऊंची लहरों के साथ उठने और गिरने में! मैंने कुछ कहा नहीं, बस देखती रही समुद्र को, निर्निमेष...और इसके बाद मैंने पिता जी से वह पहली चोरी की जब एक शाम मैं श्रीकान्त के संग मछुओं वाली उस डोंगी पर निकल गयी, न जाने कहां तक, कितनी दूर...मेरा बरसों का सपना पूरा हुआ। उस शाम की बात मुझे कुछ भी याद नहीं क्योंकि मैं अपने होश में न थी। मैं बस कांप रही थी। श्रीकान्त ने कहा, 'तुम कांप रही हो, अलस' तब मैंने जाना कि कांप रही हूँ लेकिन तब भी यह नहीं जाना कि क्यों कांप रही हूँ, भय से या आनंद के अतिरेक से। बड़ी रात तक हम दोनों अपनी छोटी सी डोंगी लिये समुद्र के वक्ष पर अठखेलियां करते रहे। चांदनी रात थी। समुद्र पागल था। मैं भी पागल थी और शायद श्रीकान्त भी पागल था। और अब मुझे डर नहीं लग रहा था क्योंकि मैं श्रीकान्त के सीने से लगी हुई थी और श्रीकान्त बहुत अच्छा तैराक था और बहादुर आदमी था और समुद्र में ऊंची-ऊंची लहरें उठ रही थीं और हम झूला झूल रहे थे और हवा में शराब थी

और मेरा दिल धड़क रहा था और चांद मुस्करा रहा था और मेरा शरीर अपने वश में न था और प्रलय के बाद सृष्टि का यह पहला दिन था...

और उस दिन के बाद और भी बहुत से ऐसे ही दिन आये और बहुत कुछ हुआ, बहुत बहुत कुछ हुआ, चांदी की रातें, सोने के दिन, मुहब्बत के इक़रार, वफ़ा के वादे, सपनों के रंगमहल, उम्मीदों के झूले...

और फिर न जाने किस एक पागल क्षण में यह नन्हा श्रीकान्त मेरे भीतर आ गया...

और तब स्वप्नों की उस अलकापुरी से मेरी वापसी की यात्रा शुरू हुई, कठिन यात्रा, कठोर यात्रा...जब सत्य मेरी खुली हुई आँख थी जो उस क्रूर प्रकाश में ठीक से खुल भी नहीं पा रही थी और...और रास्ते में ढहे हुए रंगमहल थे और झूले की डोर फांसी की डोर बन गयी थी।

धीरे-धीरे सारी बात खुली। मैं तो आसमान से गिर पड़ी। नीच विश्वासघात। श्रीकान्त अकेला नहीं था, उसकी बीवी थी, तीन बच्चे थे, चौथा होने वाला था। वह कालबा देवी में नहीं वालकेश्वर में रहता था। और उसने सब कुछ मुझसे झूठ कहा था। वह मुहब्बत के इक़रार, वफ़ा के वादे सब झूठे थे। मगर मैं फंस चुकी थी और सामने अट्टहास करता हुआ समुद्र था...

पिता जी ने चुटकी बजाते श्रीकान्त का काम तमाम करवा दिया होता, मगर नहीं मैंने अपने मन में कहा, कहानी का यह अंत ठीक नहीं, यह तो घटिया अंत है। नायक भी जियेगा, नायिका भी जियेगी और दोनों का पाप भी जियेगा और कहानी आगे बढ़ेगी। मैं अपनी शर्म को लेकर जिऊंगी। मुझे कोई शर्म नहीं है। सब प्रेम करते हैं, सबको प्रेम करने का अधिकार है। सब अपना घर बसाना चाहते हैं। मैंने कोई बुरा काम नहीं किया। मैंने विश्वास किया। वह मेरी भूल हो सकती है पर कोई अपराध मैंने नहीं किया। झूठ किसी के माथे पर नहीं लिखा होता। मुझे अपने सरल विश्वास का दण्ड मिल रहा है। उसे मैं झेलूंगी। पर मुझे लज्जा नहीं है, रत्ती भर नहीं है। लज्जा उसे आनी चाहिए जो झूठ बोला, ऐसा नीच, गंदा झूठ। कलाकार बनता है! पहले आदमी तो बन...मैंने पिता जी को बहुत समझा-बुझाकर उसका वह चित्र 'मनु' तीन हज़ार में खरीदकर ड्राइंग रूम में बड़े आदर के साथ लगा लिया है। और चौकीदार से कह दिया है कि अगर कभी वह श्रीकान्त आये तो उसे ठोकर मारकर घर के बाहर कर दे...मैं तुमसे कसम खाकर कहती हूँ मेरे मन में कोई शर्म नहीं है, हाँ दुख है, मगर शर्म नहीं है लेकिन अगर दुनिया इसे शर्म कहती है तो मैं इस शर्म को लेकर जिऊंगी, मरूंगी नहीं और न यह बच्चा मरेगा। वह उसी तरह पैदा होगा जैसे सब बच्चे पैदा होते हैं और उसका नाक नक्शा बोलेगा और वह बड़ा होगा और मैं सब जगह उसको साथ लेकर चलूंगी। और खासकर वहाँ जहाँ श्रीकान्त होगा और उसके दोस्त होंगे और उसकी प्रेमिकाएं होंगी, जिनकी कोई कमी नहीं है। और मुंह से कुछ

भी न कहूँगी और फिर भी सब कुछ कह दूँगी और फिर देखूंगी किसे शर्म आती है और कौन भागता है। अगर शर्मनाक काम मैंने किया होगा तो मैं शर्माऊंगी, अगर उसने किया होगा तो वह शर्माएगा। इसी की तो आज़माइश होगी। यह तो लम्बी लड़ाई है। मुहब्बत की एक घड़ी नफ़रत की एक ज़िन्दगी बन जाती है और मैं जहाँ अपनी शर्म को ढोऊंगी वहाँ इस नफ़रत को भी ढो सकती हूँ...और लड़ाई शुरू हो गयी है। श्रीकान्त को पता चल जायेगा कि मैं यहाँ आयी हूँ। वह अभी तो यहाँ नहीं आ सकता। आगे की बात नहीं जानती...

मैं कभी सोचती हूँ कि मुझे क्या पड़ी थी जो मैं यहाँ दौड़ी आयी। जिस पर जो पड़ती झेल लेता। लेकिन फिर मेरा जी नहीं माना। मैं जिस सरल विश्वास के कारण मरी, कोई और भी उसी का शिकार हो, और मेरे जानते में हो, यह मुझसे सहा नहीं गया। मेरा कलेजा फटने लगा और मुझे आना ही पड़ा। आप पर मेरा कोई एहसान नहीं है। यहाँ तक कि आप चाहें तो मेरी कहानी को झूठ भी मान सकती हैं। मैं उसका भी कोई प्रतिवाद नहीं करूंगी बस एक बार फिर धीरे से कहूँगी कि मैं झूठ नहीं बोल रही हूँ। आप भी जानती हैं कि कोई स्त्री इस तरह का झूठ नहीं बोल सकती...मुझे माफ़ कीजिए अगर मैंने किसी तरह आपका दिल दुखाया हो...

मदालसा की कहानी चलती रही और बेला को लगा कि

उसकी आंखों के सामने किसी डरावने सपने की परतें खुलती जा रही हैं और वह गिर रही है, गिर रही है, गिर रही है—एक ऐसे खड्ड में जिसका कहीं अन्त नहीं है। क्या यह वही खड्ड है, अंधा, अमार्जनीय, जिसकी बात मैंने श्रीकान्त से कही थी! कब कही थी?! किस युग में कही थी?!

मदालसा के देखते-देखते बेला बुड्ढी हो गयी। मनोबल का टूट जाना ही बुढ़ापा है और गोकि ज़ाहिरा बेला अब भी वही थी मगर अंधा भी देख सकता था कि यह बेला वह बेला नहीं है, यह हारी हुई टूटी हुई बेला है; ढली हुई बेला है।

आधी रात का वक्त हो गया था। घर में एकदम सन्नाटा था। पास पड़ोस से भी कोई आवाज़ नहीं आ रही थी।

और तभी तन्द्रा की उस अर्द्ध-मृत अवस्था में कहीं बहुत दूर से आती हुई आवाज़ बेला के कान में पड़ी—अब मैं चलूंगी, बहन...

बेला ने जैसे नींद से जागते हुए कहा—ऊं...जाइएगा! अभी! इस वक्त!

मदालसा ने कहा—हां। तीन बजे गाड़ी मिलेगी। मैं चली जाऊंगी। आप कोई चिन्ता न करें। सड़क अभी चल रही है और स्टेशन बहुत दूर नहीं है।

और मदालसा जैसे बिना किसी भूमिका के अकस्मात् आयी थी वैसे ही अकस्मात् बिना किसी उपसंहार के चली गयी। मगर अपनी निशानी, वह सीने का घाव, छोड़ गयी जिससे खून के क़तरे टपक रहे थे।

मदालसा के फाटक के बाहर होते ही बेला को फिर अपने ऊपर बस नहीं रहा और जो दर्द उसके सोने में घुमड़ रहा था, बाँध तोड़ कर वह निकला। वह जितना ही अपने ऊपर ज़ब्त करना चाहती उतना ही वह ज़िद्दी आँसू और भी थमने में न आते गोया उसका दुखता हुआ दिल कोई गहरा कुआं हो जिसमें हर बार कोई नया सोता फूट जाता हो। जिन बातों से कभी ओठों पर मुस्कराहट खेल जाती थी उन्हीं बातों से अब कलेजा फुँक रहा था और आँखें सुर्ख थीं। पता नहीं कितनी देर तक वह इसी तरह बैठी रोती रही और फिर जाकर अपने कमरे में बन्द हो गयी। श्रीकान्त की दी हुई एक एक चीज़ उसने अपने शरीर से नोचकर फेंक दी मगर इतनी आसानी से अपनी मुहब्बत को नोचकर न फेंक सकी और रोती रही, तकिये में मुँह गाड़कर रोती रही ताकि उस सन्नाटे में कोई उसकी आवाज़ न सुने। मगर वहाँ था कौन जो सुनता?

तभी दीवारघड़ी ने तीन बजाये, जिसने अभी कुछ घंटे पहले आठ बजाये थे।

बेला को होश आया। तीन बज गये। उस लड़की की गाड़ी आ गयी होगी। उस लड़की की गाड़ी से पता नहीं रनजीत का क्या सम्बन्ध था कि आज न जाने कितने युगो बाद बेला को उसके घर लौटने का ख्याल आया। आ गये होंगे, सो रहे होंगे। बहुत थक जाते हैं।

बेला ने बहुत हिचकते हुए, दबे पाँव, रनजीत के कमरे में पैर रखा, कहीं नींद न उचट जाय। कमरा भाँय भाँय कर रहा था। बेला का माथा ठनका। शायद नहीं आये। उसने बिजली जला दी। रनजीत का बिस्तर खाली था, और सब कुछ वैसे ही था, बस रनजीत नहीं था और उसकी चारपाई के पास वाली छोटी मेज़ पर एक कागज़ पड़ा था जिसे बेला ने झपट कर उठा लिया :

बेला—

मैं भूतों की इस दुनिया में अब और नहीं रह सकता। मैं तुम्हें दोष नहीं देता, किसी को दोष नहीं देता। दोष देकर होगा भी क्या ? उससे क्या हमारी खोयी हुई मुहब्बत लौट आयेगी ? तो फिर फ़ायदा ? बहुत दर्द सहा तुमने और बहुत दर्द सहा मैंने, इतनी ही बात सच है। अब उसे और ढोने की ताक़त मुझमें नहीं है और न मैं इतना बेशर्म हूँ कि लाश की तरह, एक भारी सिल की तरह तुम्हारी ज़िन्दगी पर चढ़ा बैठा रहूँ, जब तक कि मौत मुझे नहीं पूछती। नहीं, मैं इतना बेशर्म नहीं हूँ। तभी तक साथ रहना चाहिए जब तक उसमें रस मिले। जब किसी का साथ किसी के लिए बोझ बन जाय तब गैरतमन्द आदमी को हट जाना चाहिए। हाँ इसमें तकलीफ़ होती है, ज़रूर होती है। क्योंकि बरसों की ममता के धागे काटने पड़ते हैं। मगर दूसरा उपाय भी तो नहीं है।

मैं हमेशा के लिए तुमसे अलग हो रहा हूँ। कभी सोचा था कि मौत ही हमें अलग करेगी मगर वह मेरी नादानी थी। तब तक मुझे मालूम न था कि मौत से भी बढ़ कर कोई मौत होती है।

अब तुम आज़ाद हो। मेरा साया अब तुम्हारी ज़िन्दगी पर नहीं पड़ेगा। कभी हमने साथ साथ ज़िन्दगी का सफ़र शुरू किया था। अच्छा होता कि हम साथ साथ किसी मंज़िल पर पहुँचते। मगर वह नहीं हो सका। हमारे सितारों को मंजूर नहीं था। मुझे उसका कोई गिला नहीं है, ग़म है, मगर ग़म बहुत बुरा साथी नहीं है, उसके साथ जिया जा सकता है। और जीना ही बड़ी बात है। इसीलिए बहुत बार मरने की बात सोचकर भी मैं मर नहीं सका। और इसी लिए आज तुमको आज़ाद कर रहा हूँ कि तुम, जैसे तुम्हें भाये, नये सिरे से अपनी ज़िन्दगी शुरू कर सको। मगर हमने भी तो कभी अपनी ज़िन्दगी शुरू की थी जो आज यहाँ इस किनारे पहुँची। इसलिए चलते चलते मैं तुमसे एक दो बातें कहना चाहता हूँ, आखिरी बार, जो शायद तुम्हारे काम आयें। मुहब्बत बड़े पेंच का खेल है। वह ऊपर से जितना आसान दिखाई देता है, दो दिलों का भोला सा लेनदेन, हक़ीक़त में उतना आसान नहीं है। क्योंकि कोई नदी हमेशा चढ़ी हुई नहीं रहती। और जब वह उतरती है तभी असल इम्तहान होता है। शुरू शुरू में दो चाहने वाले एक दूसरे से काफ़ी दूर रहते हैं, सिर्फ झलकियाँ देख पाते हैं, और छलावे की गुंजाइश रहती है। धीरे धीरे दोनों एक दूसरे के क़रीब आते हैं और क़रीबतर आते हैं और तब छलावे की बहुत गुंजाइश नहीं रह जाती क्योंकि दोनों के नंगे चेहरे, चेचक के दाग़, झूठ की मीनाकारी, खबासत का कोढ़, सभी कुछ दिखायी देने लगता है और यह पहली अग्नि परीक्षा होती है, मगर आखिरी नहीं। यह ठीक है कि प्रेम का अंकुर आप से आप उग आता है

मगर फिर उसका रख-रखाव ? उसकी परवरिश ? उसके लिए अपने दिल का खून देना पड़ता है। क्योंकि दुनिया में कोई ऐसा नहीं है बेला, जिसमें एक न एक बुराई, एक न एक कमज़ोरी न हो। और हमदर्दी के बिना कोई मुहब्बत ज़िन्दा नहीं रह सकती।

मेरे कुछ तौर-तरीक़े तुम्हें पसन्द नहीं आये, यह मेरी बदक़िस्मती थी। और क्या कहूँ। तुम जिस शान-शौकत में पली थीं वह मैं तुम्हें नहीं दे सका। यह मेरी मजबूरी थी। मैं कुछ ऐसा बना था कि चाहकर भी कभी पैसे को इन्सान के ऊपर दर्जा नहीं दे सका। उसी की मुझे यह क़ीमत चुकानी पड़ी, मगर देखो तो वह भी मेरी मजबूरी थी, और है। मैंने भरसक तुम्हें कोई तकलीफ़ नहीं पहुँचने दी और अपने दिल का सच्चा, एकदम सच्चा प्यार दिया, मगर वह शायद काफी न था। इसीलिए मैंने कहा कि सितारों को हमारी ख़ुशी मंजूर नहीं थी और आज मैं तुमसे अलग हो रहा हूँ, बेला, हमेशा के लिए अलग हो रहा हूँ। मुझे तुमसे कोई शिकायत नहीं है, तुम पर कोई शक नहीं है, यह मैं सच्चे दिल से कह रहा हूँ। मगर तब भी जा रहा हूँ जहाँ जाने के लिए मेरी क़िस्मत, मेरी ज़िन्दगी, मेरे दिल की पुकार मुझे हमेशा एड़ लगाती रही है, जहाँ इन्सान इस ज़माने की उस सबसे बड़ी बीमारी में गिरफ्तार है जिसे हैज़ा, ताऊन, मलेरिया, डेंगू, दिक़ कुछ भी कह लो मगर जिसका सही नाम ग़रीबी है, मुफ़लिसी है जिसका कोई इलाज मेरे पास नहीं है। मगर बेला, मैं जानता हूँ कभी कभी रंगीन पानी भी काम कर जाता है, प्यार का एक मीठा बोल भी काम कर जाता है।

और इसीलिए मैं जा रहा हूँ। मैं इस तरह ज़िन्दगी को ढोना और उसी को ढोते ढोते एक रोज़ मर जाना बेमानी समझता हूँ। यह एक गुनाह होगा अपने साथ और तुम्हारे साथ।

मैं जानता हूँ और शायद तुम भी जानती हो कि मुझे बहुत दिन जीना नहीं है। सच बात से आँख चुराना बेसूद है। मेरी बीमारी ऐसी है कि किसी रोज़ मेरा दम निकल सकता है। मगर मुझे उसकी कोई फ़िक्र नहीं है। सभी को एक न एक दिन मरना है। और मरने से सबको डर लगता है लेकिन अगर ज़िन्दगी को ढंग से जिया गया हो तो यह डर कम हो जाता है, यह मुझको मेरे ग़रीब बाप की सीख थी जिसने आखिरी दिन तक काम किया था। बेला, मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि अपनी मौत के पहले नहीं मरूँगा और जी लगा कर काम करूँगा, खाऊँगा, सोऊँगा, खुश रहूँगा, हँसूँगा, मुस्कराऊँगा, और कभी तुमको कभी कुमी को अपने कुमी को याद करके उदास हो जाऊँगा, रो लूंगा और फिर किसी ग़रीब के लिए मिक्सचर लिखूंगा, किसी को सुई दूंगा, कभी नींद नहीं आयेगी तो अपना वायलिन उठा लूंगा और इसी तरह हंसते-रोते, सोते-जागते, काम करते और कराहते एक दिन चला जाऊँगा और जहां भी रहूँगा-दो चार मेहरबान अपने कंधों पर मुझे मसानघाट पहुँचा देंगे।

किसी बात का दुख मत करना। खुशी खुशी अपनी नयी ज़िन्दगी शुरू करना, अगर्चे वह मुश्किल है, मैं जानता हूँ, मगर कोशिश करोगी तो सब हो जायेगा। ज़िन्दगी बड़ी बेरहम और इसीलिए बड़ी रहमदिल होती है, कोई किसी के लिए सदा यकसां नही रो सकता। न मैं न तुम। कोशिश करोगी तो ज़िन्दगी

का नया वर्क़ खुल जायेगा। बस एक बात को मत भूलना कि आदमी की असल पहचान उसकी ऊपरी चमक-दमक से नहीं उसके दिल की सचाई से, उसकी इंसानियत से होती है। तुमने मेरे प्यार की क़द्र की या नहीं की, यह एक बहुत छोटी बात है मगर बात जो मैंने कही सही है और अगर आज नहीं तो और किसी रोज़ तुम समझोगी कि मैंने झूठ नहीं कहा था। तब शायद मैं नहीं हूँगा, मगर मेरी बात होगी।

मुझे ढूँढ़ने की कोशिश मत करना क्योंकि पाओगी नहीं। यह दुनिया एक बहुत बड़ा मेला है जिसमें एक बार हाथ छूट जाने पर कभी कभी हमेशा के लिए साथ छूट जाता है।

तुम्हारी नयी ज़िन्दगी फले फूले, तुम्हें खुशी दे।

—तुम्हारा अभागा रनजीत, जो तुम्हारा प्रेम न जीत सका।

पुनश्च

तुम्हें पैसे बराबर मिलते रहेंगे और तुम मेरी इस आखिरी प्रार्थना को मान लेना कि इनकार मत करना।

कुमी ! कुमी पर तुम्हारा ज़्यादा हक़ है क्योंकि तुम मां हो, लेकिन अगर किसी मानी में वह तुम्हारे अतीत की छाया बनकर तुम्हारी नयी ज़िन्दगी के लिए अड़चन बने तो मैं हमेशा उसे लेने को तैयार रहूँगा। उसके बारे में डाक्टर श्यामल घोष से बात करना।

—रनजीत

चेहरा खड़िये की तरह सफेद, आंखें पागलों की सी सूनी सूनी, मुँह खुला हुआ, सिड़ी की तरह, बेला वह खत हाथ में लिये खड़ी रही खड़ी रही खड़ी रही और न जाने कहाँ क्या देखती रही और फिर कटे रूख की तरह रनजीत के सूने बिस्तर पर गिर पड़ी, जिस पर रनजीत कल रात सोया था और अब कभी नहीं सोयेगा।

अब वह होगी और होगा उसका यह नागफनी का देश—सूना, बीहड़, कँटीला...

इति